

सहजानंद शास्त्रमाला

## रत्नकरण्ड प्रवचन

### चतुर्थ भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

## प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक 'रत्नकरण्ड प्रवचन चतुर्थ भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें रत्नकरण्ड प्रवचन के श्लोक १३६ से श्लोक १५० तक प्रवचन संकलित हैं।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित करना चाहता है, तो वह यह कम्प्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु डा. उदयजी मेहता, सीएटल, अमेरिका के द्वारा रु. 2000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती मनोरमाजी जैन, गांधीनगर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छावड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto>Email-vikasnd@gmail.com)

[www.jainkosh.org](http://www.jainkosh.org)

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थं पूज्यं श्री मनोहरजी वर्णीं ‘सहजानन्द’ महाराज द्वारा रचित

## आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम॥१॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान्, जो मैं हूँ वह हैं भगवान्।

अन्तर यहीं ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।

किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।

निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।

राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।

दूर हठो परकृत परिणाम, ‘सहजानन्द’ रहूँ अभिराम॥

अहिंसा परमोधर्म

## आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ॥१॥

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।

हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन०, मैं सहजानंद०॥१॥

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।

पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥२॥

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।

निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥३॥

## Contents

प्रकाशकीय.....	2
आत्मकीर्तन.....	3
आत्म रमण .....	3
१लोक 136 .....	5
१लोक 137 .....	5
१लोक 138 .....	44
१लोक 139 .....	56
१लोक 140 .....	57
१लोक 141 .....	59
१लोक 142 .....	61
१लोक 143 .....	62
१लोक 144 .....	65
१लोक 145 .....	66
१लोक 146 .....	68
१लोक 147 .....	69
१लोक 148 .....	74
१लोक 149 .....	77
१लोक 150 .....	79

## रत्नकरण्ड प्रवचन चतुर्थ भाग

### १६०क 136

**श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु ।  
स्वगुणः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥१३६॥**

श्रावक की ज्यारह प्रतिमाओं का विधान—इस छंद से पहले समाधिमरण का कर्तव्य बताया था और उससे पहले ब्रती श्रावकों के कर्तव्य बताये थे । तो इस प्रसंग में अन्त में यह जिज्ञासा हो रही है कि ब्रती श्रावक किस-किस प्रकार के कर्तव्य को करता है और उसके कितने दर्जे हैं, जैसे मुनिजन एक ही समान हुआ करते हैं वैसे ही क्या श्रावक भी एक ही समान होते हैं? यद्यपि मुनियों के आचरण में कमी वेशी के कारण पुलाक वकुस आदिक भेद कर दिए गए हैं लेकिन उन सबका संकल्प प्रतिज्ञा महाब्रत एक ही समान है । तो जैसे मुनियों का महाब्रत एक समान है इसी प्रकार श्रावकों के ब्रत भी क्या एक समान हैं? इसही के समाधान में श्रावकों की ११ प्रतिमाओं का वर्णन प्रारम्भ हो रहा है । इस छंद में बताया है कि अरहंत भगवंत ने श्रावक के स्थान ११ बताए हैं । वैसे श्रावक के स्थान असंख्यात हैं जिनकी गिनती नहीं परिणामों के भेद से पर उन सब असंख्याते स्थानों को संक्षेप से कहा जाए जो कि व्यवहार में प्रयोजनिक हैं तो वे होते हैं ११ पद और उन पदों में ये पद पूर्व पदों के साथ चलते हैं और इसी तरह आगे क्रम से बढ़ते हैं अर्थात् किसी के यदि तीसरी प्रतिमा है तीसरा पद है तो पहले दो पद अवश्य होने चाहिएँ । किसी के ११वां पद है तो उसके पूर्व के १० पद अवश्य होने चाहिएँ । ये ११ प्रतिमाएँ अटपट नहीं होती कि ७वीं प्रतिमा लेवे तो उसे ६ प्रतिमाओं से प्रयोजन नहीं । अरे जिसकी ७वीं प्रतिमा है उसकी पूर्व की ६ प्रतिमाएँ तो रहेंगी ही । जैसे मानों किसी की ११वीं प्रतिमा है तो इसका अर्थ है कि उसकी १ से लेकर ११ तक प्रतिमाएँ हैं । वे ११ पद कौन से हैं? (१) दर्शन, (२) ब्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषधोपवास, (५) सचित्त त्याग, (६) रात्रि भोजन त्याग, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भ त्याग, (९) परिग्रह त्याग, (१०) अनुमति त्याग और (११) उछिष्ठाहार त्याग । जो जिस प्रतिमा का धारी है वह उससे पीछे की प्रतिमाओं का पालन करता हुआ ही विवक्षित प्रतिमा का पालन करता है, ऐसा न हो सकेगा कि किसी ने ८वीं प्रतिमा ली है तो ८वीं तो पाले और पहले की ७ प्रतिमाओं को न पाले । इन प्रतिमाओं में पहले ६ प्रतिमाओं तक जघन्य श्रावक कहलाता है । ७वीं प्रतिमा से १०वीं प्रतिमा तक मध्यम श्रावक कहलाता है ११वीं प्रतिमा में उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है । अब उनमें से प्रथम प्रतिमा का वर्णन करते हैं ।

### १६०क 137

**सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विणः ।  
पञ्चगुरुचरणशरणो दार्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥१३७॥**

दर्शनप्रतिमा के वर्णन का उपक्रम—जो पुरुष सम्यग्दर्शन से शुद्ध, है संसार, शरीर और भोगों से उदासीन है, पंचपरमेष्ठी गुरु के चरणों की शरण जिसने ग्रहण की है, सन्मार्ग में जो-जो आचरण बताए गए हैं उन आचरणों

को पालने वाला है, मोक्षमार्ग में अवस्थित है वह दार्शनिक श्रावक कहलाता है। यहाँ दार्शनिक से अर्थ न्याय वाला नहीं, किन्तु सम्यगदर्शन की सिद्धि वाला श्रावक कहलाता है। सम्यगदर्शन की अपूर्व महिमा है। जिस जीव के सम्यकत्व है वह पवित्र जीव है। जिसके सम्यकत्व नहीं वह धर्म के नाम पर कितनी ही क्रियाएँ चेष्टाएँ करता रहे किन्तु वह धर्म के मार्ग में नहीं है, उसे तो एक अच्छा शौक लग गया है। जैसे किसी को बुरे शौक लगा करते हैं इसको अच्छा शौक लग गया है, पर सम्यगदर्शन पाए बिना वह धर्म मार्ग में नहीं है।

**सम्यगदर्शन के लाभ के उपाय में प्रथम उद्यम वस्तुस्वरूप का यथार्थ विज्ञान—सम्यगदर्शन पाने के लिए प्रयत्न क्या होना चाहिए?** सर्वप्रथम प्रयत्न यह है मनुष्यों का कि वे वस्तुस्वरूप का निर्णय करें। वस्तुस्वरूप के निर्णय के बिना सम्यकत्व नहीं बनता। वस्तुस्वरूप का निर्णय होता है स्याद्वाद परमागम से। जैन शासन में दो चीजें ऐसी कही गई हैं कि जिनके स्वरूप का वर्णन जैन शासन में ही मिल पाता है और वह जीवन के उद्धार के लिए परमावश्यक है। वे दो बातें हैं स्याद्वाद और अहिंसा। स्याद्वाद से तो विचार शुद्ध होते हैं और अहिंसा से आचार शुद्ध होता है। यों भाषणों में सभी कोई कहते हैं कि अपना आचार विचार शुद्ध रखना चाहिए पर कहने से क्या होता है? आचार विचार किस तरह शुद्ध रह सकते हैं उसका उपाय भी तो होना चाहिए। उसका उपाय स्याद्वाद और अहिंसा ही है।

**स्याद्वाद के आश्रय से वस्तुस्वरूप का सुझान—स्याद्वाद से विचार पवित्र बनते हैं।** स्याद्वाद कहते हैं अनन्त धर्मात्मक वस्तु में अपेक्षा से धर्म को निहारना। यह स्याद्वाद है, जैसे जीवद्रव्य नित्य है व अनित्य है, एक है व अनेक है, सत् है व असत् है, अनेक धर्म इसमें पाए जाते हैं। अब वे धर्म किस अपेक्षा से हैं, उन अपेक्षाओं को पहिचानकर उन अपेक्षाओं से उनमें उन सब धर्मों का परिचय करना, बताना यह स्याद्वाद कहलाता है। संसार में जो विरोध, विवाद, झगड़ा, विसम्बाद फैला है यदि स्याद्वाद का आश्रय लिया होता तो विवाद, झगड़ा, विसम्बाद न फैलता। जैनदर्शन का सारे विश्व के लिए कितना उपकार है कि उसके बिना इस जीवन में भी झगड़ा न मिटेगा और सदा के लिए भी जन्ममरण का झगड़ा न मिटेगा। ऐसी अपूर्व देन इस जैन शासन से प्राप्त हुई। इसकी कृपा बिना जीव कभी भी सुखी नहीं हो सकता। जिन्होंने इस जैन शासन का वरदान पाया है उनका अन्तः करण कह उठता है कि इस जिनवाणी के उद्धार के लिए मेरा तन लगे, मन लगे, प्राण लगे फिर भी मैं उससे उत्तरण नहीं हो सकता।

**अकलंक निष्कलंक का जिनशासन की भक्ति में विपत्तियों से संघर्ष—अकलंक और निष्कलंक देव ने इस जिनवाणी के प्रसार के लिए अपना कितना बलिदान किया।** जब वे बौद्ध शाला में पढ़ते थे तो एक दिन गुरु पढ़ा रहा था। जब स्याद्वाद का प्रकरण आया तो वहाँ कोई शब्द अशुद्ध था। उस अशुद्ध के कारण गुरु जरा भी आगे न बढ़ सकता था तो यह कहकर छोड़ दिया कि इस प्रकरण को कल बताएँगे, शास्त्र बंद कर दिया और चला गया। यहाँ अकलंक निष्कलंक ने अकेले ही एकान्त पाकर उस शास्त्र को खोला, उस स्याद्वाद के प्रकरण को पढ़ा, उसमें जो अशुद्धी थी उसको दूर कर दिया। केवल एक अक्षर शुद्ध करने की आवश्यकता थी।

और ज्यों का त्यों शास्त्र बंद करके वे अपने स्थान पर चले गए। छात्रावास में रहते थे, दूसरे दिन गुरुजी ने जब वह प्रकरण खोला और उसमें देखा कि एक अक्षर लिखकर शुद्ध किया गया है तो वह तुरंत ताढ़ गया कि इन बालकों में कोई जैन बालक रह रहा है। इतनी बुद्धि और किसमें जगेगी कि जो एक अक्षर की अशुद्धि को शुद्ध कर दे। उस समय बौद्ध शासन का जोर था, बौद्ध राजा था। अन्य धर्म वाले यदि सिर उठाते थे, अपना प्रचार करते थे तो उनको दण्ड दिया जाता था, जेल भेजा जाता था, मृत्यु दण्ड भी दिया जाता था। गुरु ने खबर राजा को भेजी, पता लगाने का आर्डर दिया तो गुरु ने उन जैन बालकों का पता लगाने के लिए एक उपाय तो यह किया कि एक दिग्म्बर जैन मूर्ति कहीं से लाकर रख दी और यह आदेश दिया सब बालकों को कि इस मूर्ति को सब लांधेंगे। अकलंक निष्कलंक बड़ी परेशानी में आ गए, फिर भी जिनवाणी के प्रति इतनी भक्ति थी कि एक रास्ता निकाल लिया। चाहे उसमें थोड़ा अविनय भी हो तो भी जिनवाणी के प्रचार प्रसार करने के लिए उन्होंने वह चोट भी सही। सब बालक उस प्रतिमा को लांघ गए। जब अकलंक निष्कलंक की बारी आयीतो उन्होंने क्या किया कि अपने कपड़े का एक धागा निकाला और उस मूर्ति पर डालकर और कल्पना यह करके कि मैं देव की अविनय नहीं कर रहा हूँ। उस प्रतिमा को परिग्रही बना दिया, अब यह निष्परिग्रह न रहा, कोई उपाय तो करना ही था, सो वे भी उसको लांघ गए। गुरु को जैन बालक का कुछ पता न चला। तब गुरु ने एक काम और किया कि रात्रि के चार बजे जब वे बालक सोकर उठते थे उससे भी आधा घंटा पहले दूसरी मंजिल पर पचासों थाली रख दिए और एकदम चार बजे सब थाली गिरा दिया। बड़ी तेज पीड़ा हुई, सब बालक चौक गए, सभी अपने इष्ट का स्मरण करने लगे, सुगुतायनम्: बुद्धाय नमः आदि। और अकलंक निष्कलंक भी एकदम से उठकर णमोकार मंत्र पढ़ने लगे। अचानक जब कोई विपत्ति आती है तो जैसा दिल होता है वैसी ही उनकी आवाज निकलती है। बस उन्हें पकड़ लिया गया और तत्काल ही जेल में बंद करा दिया गया।

जिनशासन के प्रसार की शुभकामना में अकलंक निष्कलंक का अपूर्व बलिदान—दोनों भाइयों को जेल में दिनभर हो गया, रात भी आधी हो गई। अकलंक निष्कलंक बड़ी चिन्ता में पड़ गए। उन्हें प्राण जाने का खेद न था किन्तु खेद था जिनवाणी के प्रसार प्रचार का कार्य न कर सकने का। सो वे उस चिन्ता में थे कि वहाँ चक्रेश्वरी देवी प्रकट हुई और उसने बताया कि ऐ बालकों तुम चिन्ता न करो, अभी १०-१५ मिनट के अन्दर ही तुम इस सींखचे से निकल जाओ। उस देवी ने माया से पहरेदार को सुला दिया, जेल का फाटक खुल गया और अकलंक निष्कलंक आधी रात को ही वहाँ से चल दिए। जब सवेरा हुआ और देखा कि वे दोनों लड़के जेल में नहीं हैं तो राजा को खबर दी। राजा ने चारों दिशाओं में नंगी तलवारें लिए घुड़सवार भेजे और कहा कि जहाँ वे दोनों लड़के मिले, उनका सिर काटकर लावो। वे घुड़सवार चारों ओर दौड़ गए। ८, ९ बजे सुबह अकलंक निष्कलंक आगे बढ़ते चले जा रहे थे। पीछे से देखा कि बड़ी आवाज आ रही है, घोड़े दौड़े आ रहे हैं, तो मालूम पड़ा कि ये लोग हम दोनों का सिर काटने आ रहे हैं, तो उस समय अकलंक ने निष्कलंक से कहा कि देखो यह तालाब है, इसमें कमल बन है, इस कमलवन में तुम छिप जाओ। तो निष्कलंक कहता

है कि हे बड़े भाई आप ही छिप जावो । उन दोनों में होड़ हो गई, एक कहे कि तुम छिप जावो, दूसरा कहे कि तुम छिप जावो । तब निष्कलंक ने अकलंक के पैर पकड़कर और जिनशासन के प्रचार की भीख मांगकर कहा कि हे भाई आपको एक बार सुनने में ही विद्या आ जाती है और मुझे दो बार सुनने में विद्या आती है । अब मुझे भीख दो, आप इस कमलवन में छिप जाइए । अब देखो निष्कलंक ने उस समय कितना बड़ा त्याग किया अपने प्राणों की भी परवाह न कर के अपने प्राणविसर्जन के लिए तैयार हो गया और उससे भी अधिक अकलंक का त्याग कि अपनी आँखों देखते-देखते जिनशासन की भक्ति में अपने छोटे भाई का प्राण विसर्जन भी तक रहा है । दोनों बड़े त्यागी पुरुष, आखिर वह निष्कलंक आगे चला तो एक जगह एक धोबी का लड़का एक तालाब में कपड़े धो रहा था, सो डर के मारे वह भी साथ लग गया । वहाँ एक घुड़सवार आया और तलवार से दीनों का सिर उड़ा दिया । उसने उन दोनों को ही अकलंक निष्कलंक जाना । और सिर काटकर राजा के दरबार में पेश किया । आखिर तालाब में छिप जान से अकलंक बच गए । फिर अकलंक ने अपनी विद्या विज्ञान के बल से जो जैन शासन का प्रसार किया उसे तो विद्वज्जन जानते हैं जिन्होंने जैन शासन, जिनागम व जैन साहित्य का परिचय पाया ।

**जिनागम के अनुराग का लाभ—प्रत्येक मन्दिर में यदि कई हजारों का भी साहित्य रखा जाए, कोई भले ही उन्हें न पढ़े फिर भी आस्था से, विनय से ज्ञान के प्रति सद्भाव हो तो उससे भी जीव बड़ा फल प्राप्त करता है । प्रतिमा के भी हम दर्शन करते हैं या और कुछ कर लेते हैं । यदि मन्दिर में जिनागम के हम केवल दर्शन ही कर पाए तो यह देवदर्शन से कम बात नहीं है और फिर जो लोग विद्वान हैं वे यदि एक ही ग्रन्थ पढ़कर अपना सम्यक्त्व लाभ ले पाते हैं तो यह कितना बड़ा उपकार है जैन शासन का । इस जैन साहित्य में जिनको रुचि नहीं जगती उनको ऐसा ज्ञान कैसे प्राप्त होगा? जिनको आज विशेष ज्ञान है उन्होंने पूर्व भव में ज्ञान का समर्थन किया था । ज्ञान के प्रति भक्ति बनाया था, उसका फल है कि आज ज्ञान मिला है । तो सम्यग्दर्शन का जो प्रारम्भ करना चाहता है उसका कर्तव्य है कि जिनागम का अध्ययन करें, वस्तुस्वरूप का परिचय बनाएँ । तो सर्वप्रथम स्याद्वाद द्वारा वस्तु स्वरूप का निर्णय करना इन मनुष्यों के लिए अतीव आवश्यक है ।**

**स्याद्वाद का प्रयोग—स्यात् का अर्थ है अपेक्षा और वाद का अर्थ है कहना । अपेक्षा से वस्तुस्वरूप का वर्णन करना स्याद्वाद कहलाता है । और अनेकान्त जिस वस्तु में अनेक अन्त है, (सभी वस्तुओं में अनेक धर्म है) सो वस्तु को कहते हैं अनेकान्त । अनेकान्त नाम है पदार्थ का और स्याद्वाद नाम है प्रतिपादन की शैली का । तो जैसे जीव नित्य है, अनित्य है वह अपेक्षा देखनी होगी कि एक ही जीव में नित्य और अनित्य, ऐसे दो विरुद्ध धर्म जो कहे जा रहे सो वह किसी अपेक्षा से ही सम्भव है । द्रव्यदृष्टि से देखने पर जीव सदा रहता है । नित्य है, एक रूप है, वह बदलता नहीं है, किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता । परिणमनों को द्रव्यार्थिकनय नहीं देख रहा है और उस द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से जीव नित्य और पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से जीव अनित्य है । क्योंकि जीव में प्रति समय नए-नए परिणमन चलते हैं । अर्थात् नवीन परिणमन का उत्पाद पूर्व परिणमन का व्यय यह व्यवहार होता रहता है । तो पर्यायार्थिक दृष्टि से जीव अनित्य है, आज इसी बात को लेकर दार्शनिकों में विरोध**

छाया है, और जहाँ ऐसे पुरुषों में विरोध छाया है तो छोटे पुरुषों में भी विरोध आ गया और जिस विरोध का इतना खोटा परिणाम था कि आज चाहे धर्म की श्रद्धा न होने से समझ लीजिए कि समन्वय की दुहाई दी जा रही है। नहीं है विशेष ज्ञान तो कहते हैं कि अजी चाहे जिस धर्म को मानकर चलो, आखिर पहुंचना सबको एक ही जगह है। तो भाई मोक्ष पहुंचने के अनेक मार्ग नहीं हैं। उसका मार्ग तो केवल एक ही होता है।

**मोक्षमार्ग की आत्मनिष्ठता**—मोक्षमार्ग किसी सम्प्रदाय से सम्बन्ध नहीं रखता, उसका तो आत्मा से ही सम्बन्ध है, और जितने पुरुष हैं वे सब आत्मा हैं, इसलिए मोक्ष का मार्ग निष्पक्ष होता है और आत्मा के नाते से होता है। कहीं कुल के नाते से, सम्प्रदाय के नाते से मोक्षमार्ग नहीं होता। वह मोक्षमार्ग क्या है? तो संक्षेप में यह समझ लीजिए कि मोक्ष के मायने हैं छुटकारा, आत्मा का छुटकारा। किससे छुटकारा? जिससे बंधन है उससे छुटकारा। किससे बंधन है? शरीर, कर्म और विकार ये तीन बंधन जीव के साथ लगे हैं। उन तीनों बंधनों से छुटकारा होने का नाम है मोक्ष, और ऐसा मोक्ष पाने का जो उपाय है उसे कहते हैं मोक्षमार्ग। क्या चाहिए? छुटकारा। छुटकारा चाहने वाले को यह तो श्रद्धा होनी चाहिए कि मेरा छुटकारा हो सकता है, ऐसा निर्णय करने वाले को यहाँ ही स्वरूप में छूटा हुआ नजर आना चाहिए। सो इन सब में मिला हुआ यह आत्मा अपने स्वरूप से सर्व से निराला है, स्वतंत्र सत् है, अपने आप इसकी सत्ता है। इसके स्वरूप में दूसरा कुछ मिला नहीं है इसलिए छूटा हुआ ही है, ऐसा अनादि मुक्त स्वभाव दृष्टि का मुक्त यहाँ नजर आया, तो परिणमन दृष्टि से मुक्त भी हो जाएगा। पर जिसको यहाँ ही अपने स्वतंत्र अस्तित्व का विश्वास नहीं है उसके स्वतंत्रता कभी हो ही नहीं सकती। तो मोक्ष का मार्ग है कि अपने आपके सहज स्वरूप का विश्वास हुआ।

**स्याद्वाद का सम्मार्गदर्शकता व रक्षकता**—अपने सहजस्वरूप का विश्वास कैसे प्राप्त हो, इसके लिए चाहिए वस्तुस्वरूप का ज्ञान और वह ज्ञान होगा स्याद्वाद से। यहीं चौकी जिस पर हम बैठे हैं, पूछे कि बताओ यह चौकी कैसी है? तो कोई कहेगा कि यह चौकी ढाई फिट लम्बी चौड़ी है। लम्बी चौड़ी न कहकर यह तो ढाई तीन फिट की है। कोई कहेगा कि यह तो बस एक फुट की है। अब दोनों में झगड़ा शुरू हो गया। एक कहता कि तू झूठ बोलता है, दूसरा कहता कि तू झूठ बोलता है। तो अब उन दोनों का झगड़ा निपटायगा स्याद्वाद। वह समझायेगा कि लम्बाई चौड़ाई की दृष्टि से साढ़े तीन फिट की है। ऊंचाई की दृष्टि से १ फुट है। बस दोनों का विवाद खत्म। तो स्याद्वाद का सहारा लिए बिना व्यवहार में भी झगड़ा नहीं निपटता। झगड़े की जड़ है स्याद्वाद के विरुद्ध चलना। कितने ही घरों में देखा जाता कि लोग बड़ी कूरता से एक दूसरे के साथ कैसे पेश आते हैं और कहो वे बड़े प्रेम के कारण ही वचन निकले हों। जो ऐसे आशयों को नहीं समझ सकते उनमें विरोध हो जाता है। समस्त विरोध को मिटाने वाला है स्याद्वाद। विश्व का रक्षक है तो स्याद्वाद। और देखिए स्याद्वाद के सहारे सब लोग जीवित रह रहे हैं फिर भी स्याद्वाद का आभार नहीं मान सकते। किन्हीं को तो ज्ञान ही नहीं है और जिनको ज्ञान है उनको अपने कुल धर्म का पक्ष है इसलिए स्याद्वाद के बल पर ही तो हम जीवित हैं। और उस स्याद्वाद का नाम लेकर चर्चा आये तो वह विरुद्ध जंचती है। तो यह स्याद्वाद विश्व का रक्षक आत्मा का रक्षक वस्तुस्वरूप का सही परिचय क्याकर मोक्षमार्ग में लगाने वाला

है। इस स्याद्वाद के उपकार से हम कभी उऋण नहीं हो सकते।

**द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक दृष्टि से वस्तुस्वरूप का निर्णय कर सम्यक्त्व लाभ पाकर सदाचार की ओर अभिमुखता**—दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण कहा जा रहा है कि जिन्होंने सम्यक्त्व पाया है वे ही इस प्रतिमा के धारी अधिकारी बन पाते हैं। सम्यक्त्व पाने के लिए वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान होना आवश्यक है, अन्यथा समस्त परद्रव्यों से हटकर, परभावों से हटकर निज सहज स्वभाव में मग्न होने की बात कैसे बनेगी? तो सम्यक्त्व के लिए वस्तुस्वरूप का निर्णय चाहिए। वस्तुस्वरूप का निर्णय स्याद्वाद से होता है। अतः स्याद्वाद के आश्रय से वस्तु का परिचय करना सम्यक्त्व लाभ के लिए प्रथम आवश्यक है, स्याद्वाद का अर्थ है अपेक्षा से कहना। वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक होता है। वस्तु सदा रहेगा, वह सत् सदैव रहेगा, इसे कौन मेट सकता है? और वस्तु का प्रतिसमय परिणमन चलता ही रहेगा, इसे भी कौन मेट सकता है? दो बातें पदार्थ में अत्यन्त आवश्यक है और है ही, तभी पदार्थ की सत्ता है। यदि परिणमन न रहे तो पदार्थ ही क्या और पदार्थ? की सत्ता क्या? यदि वह वस्तु ही शाश्वत न रहे तो फिर अवस्था किसकी? तो पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है। इसी कारण पदार्थ का निर्णय द्रव्यार्थिकनय और पर्यापार्थिकनय से होता है। यहाँ गुणार्थिक नय नहीं कहा गया, उसका कारण यह है कि गुण तो द्रव्यस्वरूप को समझाने के लिए समीचीन पद्धति से स्वभावतः भेद किया गया है। परमार्थतः वस्तु एक अखंड स्वभावरूप है, पर वह समझे क्या? उसे समझाया कैसे जाए? सो प्रभु ने अरहंत देव ने, गणधर देवों ने आचार्यों ने करुणा करके अज्ञ जनों को समझाने के लिए गुणभेद किया है। गुण के समझने के लिए द्रव्यार्थिकनय ही काफी होता है, क्योंकि गुण प्रतिपादन के लिए भेद किया गया मात्र है। कहीं गुणों की सत्ता नहीं है गुण वस्तु की तारीफ है। वस्तु एक अखण्ड है और उसका प्रतिसमय परिणमन भी अखण्ड है। जैसे गुण समझाने के लिए बताए गए हैं ऐसे ही पर्यायें भी समझाने के लिए एक समय में गुणपर्यायों की विशेषता से अनेक हैं। जैसे कि यह पुद्गल पीला है, खट्टा है, कोमल है, अनेक पर्यायों का भेद जो किया है गुणों के सहारे से वह भी व्यवहार से है। वस्तुतः द्रव्य अखण्ड है और प्रति समय का परिणमन भी अखण्ड है। अखण्ड-अखण्ड परिणमन प्रति समय होता चला जाता है। तो दो बातें माननी अतीव आवश्यक हुई जैसे कि वस्तुतः है, द्रव्य और पर्याय।

**स्याद्वादमुद्रा**—द्रव्यसम्बन्धित धर्म द्रव्यार्थिक दृष्टि से जाने जाते हैं पर्याय सम्बन्धित धर्म पर्यायपार्थिक नय से जाने जाते हैं। जब जैसे जीव द्रव्यार्थिकनय से नित्य ही है ऐसे ही पर्यायार्थिकनय से अनित्य ही है। स्याद्वाद की मुद्रा ‘भी’ से नहीं बनती, किन्तु ‘स्यात् और एव’ से बनती है इस अपेक्षा से ऐसा ही है यह है स्याद्वाद की मुद्रा। जैसा आज भी प्रसिद्ध किया जाता है—जीव नित्य भी है, अनित्य भी है, यह स्याद्वाद की शुद्ध मुद्रा नहीं है। पर जो लोग समझ जाते हैं, भी के कहने से भी उन्होंने द्रव्यार्थिकनय के स्यात् एव को व, पर्यायार्थिकनय के स्यात् एव को समझ रखा है, (अन्दरस्टूड कर रखा है) तब उन्हें भी काम दे रहे हैं। यदि अपेक्षा से ही की बात उनके निर्णय में न हो तो ‘भी’ एकदम गलत है, क्योंकि वस्तु का स्वरूप अपेक्षा देकर अवधारण पूर्वक समझा जाता है। अगर अपेक्षा लगाकर ‘भी’ कहा जाए तो उससे तो बड़ा अनर्थ बनेगा।

जैसे कहा जाए कि जीव द्रव्यार्थिकनय से नित्य भी है तो इसका अर्थ क्या होगा कि द्रव्यार्थिकनय से अनित्य भी होगा । यह कितना विरुद्ध हो गया । यदि कहा जाय कि पर्यायार्थिकनय से अनित्य भी है तो इसका अर्थ क्या बना कि पर्यायार्थिकनय से नित्य भी होगा । तो 'भी' की मुद्रा स्याद्वाद में न लेना और न शास्त्र में किसी जगह 'भी' का प्रयोग मिलता है स्याद्वाद में, पर प्रसिद्धि हो गई है और लोग 'ही' को तो भूल गए और 'भी' को प्रधान करके बताते हैं कि यह है स्याद्वाद ।

स्याद्वाद में संशयवाद की नितान्त असंभवता—लोक कभी-कभी ऐसा संदेह करने लगते हैं कि स्याद्वाद तो संशयवाद है जहां भी का प्रयोग होता है वहाँ संशय को गुंजाइश हुआ करती है । तो भी के प्रयोग ने संशयवाद के संशय को बढ़ा दिया है । द्रव्य व पर्याय दोनों रूप से भली भांति समझना चाहिए, मौलिक ढंग से समझ करके फिर चाहे कोई 'भी' का प्रयोग करे तो भी वह अपना अनर्थ नहीं कर रहा, क्योंकि भीतर में इतना समझ रखा है कि इस भी के बीच में द्रव्यार्थिकनय का स्यात् एवं पड़ा है और पर्यायार्थिकनय का स्यात् एव पड़ा है, और इसी आधार पर 'भी' की प्रसिद्धि कुछ समय से चली आयी । पर स्याद्वाद की सही मुद्रा है 'स्यात् एव' इन दो शब्दों के बीच में नित्य का प्रयोग करना चाहिए या जो सिद्ध करना है । जैसे जीवः स्यात् नित्य एव, जीव किसी अपेक्षा से नित्य ही है, जीवः स्यात् अनित्य एव, जीव किसी अपेक्षा से अनित्य ही है, सो बिल्कुल स्पष्ट है । द्रव्य दृष्टि से नित्य ही है, पर्यायदृष्टि से अनित्य ही है । यदि [भी की मुद्रा यहाँ व्यवहार में भी लगाने लगे कोई तो बड़ी मजाक चल उठेगी । जैसे मानो घर में कोई तीन लोग हैं—(१) सुरेश, (२) नरेश और (३) महेश । सुरेश तो है बाबा, नरेश है लड़का और महेश है पोता । अब वहाँ कोई यदि इस तरह बोलने लगे कि यह महेश नरेश का पुत्र भी है तो क्या अर्थ निकला कि नरेश का बाप भी होगा । देखिए इतने में कितना अनर्थ हो गया । यह नरेश महेश का पिता भी है तो अर्थ निकलेगा कि नरेश महेश का पुत्र भी होगा बाबा भी होगा । एक मोटे रूप में ले लो बाबा पुत्र और पोता । पुत्र की पहिचान कराना है तो कोई कहे कि यह पोते का बाप भी है तो इसके मायने पोते का पुत्र भी होगा । यह इस तरह अपने बाप का लड़का भी है, तो इसके मायने हैं कि वह अपने बाप का बाबा भी होगा । तो लोक व्यवहार में यदि स्याद्वाद के रूप में भी का प्रयोग किया जाए तो वहाँ तो मजाक चल उठेगा । स्याद्वाद में 'भी' का स्थान नहीं है किन्तु ही का स्थान है और वह है अपेक्षा लगाकर ।

अपेक्षा और अवधारण की पूर्वापरता से स्याद्वाद की सम्हाल—स्याद्वाद एक बड़ी घाटी है, इस पर चढ़ना और उतरना यह खतरे से खाली नहीं है । जैसे किसी बड़ी तेज पहाड़ी पर, रेल जाती हो तो रेल जाने में और आने में आगे पीछे दो इञ्जन चाहिए तब बिना धोखे के पहुंच पाएगी गाड़ी । जब नीचे उतरती है तब तो दो इञ्जन बहुत ही आवश्यक हैं । नीचे का इञ्जन खींच रहा है तो ऊपर का इञ्जन अपनी ओर खींच रहा है ताकि इसका एकान्त वेग न बन जाय, नहीं तो गड्ढे में गिरेगी । ऐसे ही वस्तु के किसी धर्म का निर्णय करने के लिए उसके पीछे स्यात् का इञ्जन लगता है और आगे एव का इञ्जन लगता है, बीच में वह धर्म का डिब्बा रखा जाता है—स्यात् नित्य एव । द्रव्यार्थिक दृष्टि से जीव नित्य ही है, पर्यायार्थिक दृष्टि से जीव अनित्य ही है,

इसी प्रकार जीवों में जो भी सिद्धान्त नाना दार्शनिक कहते हैं वे सब स्याद्वाद से प्रथम आधार में सिद्ध हो जाते हैं। पर एकान्त होने के कारण उसका रूप बिगाड़ लेने से वह निर्णय की कोटि में नहीं रह पाता। जैसे कोई कहता है कि जीव एक है, कोई दार्शनिक कहता है कि जीव अनेक हैं, एक ही जीव के बारे में बात कर रहे हैं अथवा कोई अनेक जीवों को एक कह रहा हो तो अब निर्णय देखिए स्याद्वाद से। जब अनेक जीवों को स्वरूप दृष्टि से देखा तो क्या उनका भिन्न-भिन्न सत्त्व दृष्टि में रहेगा? यद्यपि सत्त्व भिन्न-भिन्न है, किन्तु जब केवल स्वरूपमात्र को ही निरख रहे हैं तो वहाँ भिन्न-भिन्न सत्त्व नजर नहीं आते। और यह भी नजर नहीं आता कि सबका मिलकर एक सत्त्व है, किन्तु चैतन्यस्वभाव दृष्टि में आता है और इस स्वरूपदृष्टि से जब जीव का एकत्व ज्ञात हुआ सो ज्ञात तो हुआ, कहने में न आया। कहा गया बाद में कि वहाँ तो कोई विलक्षणता ज्ञात न हुई। तो स्वरूपदृष्टि से देखते हैं तो स्वरूप एक समान होने से एक है। एक का अर्थ समान भी होता है। संस्कृत कोष में एक-एक को भी कहते हैं और एक समान को भी कहते हैं। जैसे कहते हैं कि ये सब तो एक ही हैं तो क्या गिनती में एक है? सबका भाव एकसा है समान है। तो सब जीवों में एकपना जो दार्शनिक मानते हैं वे स्वरूपदृष्टि से चले और चलकर फिर उन्होंने अपना रूप बिगाड़ा, यों भी एक दर्शन बन गया। कोई दार्शनिक एक जीव में ही अनेक जीव मानते हैं। वे एक जीव नहीं हैं तो उसका आधार स्याद्वाद में क्या है? पर्यायार्थिकनय। जब एक जीव को पर्यायदृष्टि से निरखते हैं तो प्रति समय का पर्याय भिन्न-भिन्न है। तो पर्यायरूप से देखा हुआ वह तत्त्व सब भिन्न-भिन्न लक्षण वाला है। इस आधार से कोई चला और चलकर हठकर गया, और रूप बिगाड़ लिया तो वह ऐकान्तिक बन गया, पर स्याद्वाद एक ऐसा मित्र है कि विश्व के समस्त दार्शनिकों को एक मंच पर आराम से बैठा देते हैं।

पदार्थ में मौलिक दो निर्णयों की अपेक्षा का दिग्दर्शन एवं एक साथ कहना अशक्य होने से अवक्तव्यता—स्याद्वाद में मूल में दो निर्णय बताए गए, एक द्रव्यार्थिक दृष्टि का निर्णय और एक पर्यायार्थिक दृष्टि का निर्णय। पर कोई यह प्रश्न पूछे कि हमको तो तुम एक ही बार में, एक ही शब्द में बतला दो कि जीव कैसा है? आप पहले कहते हो कि द्रव्यार्थिक दृष्टि से नित्य है फिर कहते पर्यायार्थिक दृष्टि से अनित्य है, तो ऐसी दो बातें हम नहीं सुनना चाहते। आप हमको एक ही शब्द में, एक ही समय में वस्तु कैसा है यह बतलाइये। तो क्या यह बताया जा सकता है? दुनिया में कोई शब्द है क्या ऐसा कि जो वस्तु के स्वरूप को एक शब्द में बता दे? शब्द ही पक्षपात करते हैं पहले तो। अथवा शब्द वस्तु के स्वरूप में भेद बताते हैं। आप किस शब्द से पदार्थ को कहेंगे? आपने कह दिया जीव। तो जीव शब्द से वह पदार्थ जिसको हम चाहते क्या पूरा जान लिया गया? जीव के मायने तो यह है कि जो प्राणों से जीव सो जीव, पर जीव में क्या अन्य कोई विशेषताएँ नहीं हैं? सम्यक्त्व छोड़ दिया, सारी बातें छोड़ दीं उस जीव शब्द ने। तो जीव शब्द भी जीव को अच्छी तरह नहीं कह सकता। कोई कहे आत्मा, तो आत्मा का अर्थ है कि ‘अतति सतत गच्छति जानाति इति आत्मा’, जो निरन्तर जानता रहे सो आत्मा। तो इस आत्मा शब्द ने क्या उस जीव पदार्थ को पूरा बता दिया, उसने तो जानने-जानने की ही बात कही, पर उसमें रमने की शक्ति है आस्था की आदत है। आनन्द भी उसका धर्म है, यह

तो आत्मा शब्द ने नहीं कहा । कोई शब्द नहीं है ऐसा कि जो वस्तु को पूर्णतया कह सके । तो द्रव्यार्थिक दृष्टि से नित्य और पर्यायार्थिक दृष्टि से अनित्य जिसके सम्बन्ध में कह रहे उस जीव को एक शब्द से बताया नहीं जा सकता इस कारण वह अवक्तव्य है । कोई कहे कि लो तुमने अवक्तव्य शब्द से तो बता दिया, अभी कह रहे थे कि कोई शब्द ऐसा नहीं है जो पदार्थ को ठीक बता सके । अरे भाई अवक्तव्य शब्द भी सही नहीं है जीव को बताने के लिए । कैसे? अवक्तव्य का अर्थ है जो कहा न जा सके, पर तुम तो अवक्तव्य-अवक्तव्य कह तो रहे हो । कैसे कहा जा सकता है कि अवक्तव्य शब्द इस जीव को पूरा बता सकता है?

**स्याद्वाद में सप्तभङ्गी—**इन तीन धर्मों द्वारा जीव को समझा, जीव नित्य है जीव अनित्य है, जीव अवक्तव्य है, जब ये तीन धर्म समझे गए तो इनका कोई संयोग कर के समझे तो चार पञ्चतियां और बन जाएंगी । इनमें संयोग दो का हो सकता है, तीन का हो सकता है, तब यह समझा गया कि जीव नित्य है, अनित्य है, अवक्तव्य है और नित्य अवक्तव्य है, अनित्य अवक्तव्य है, नित्यानित्य है और नित्यानित्य अवक्तव्य है । इसी को कहते हैं सप्तभङ्गी । जहाँ तीन बातें स्वतंत्र हों वहाँ उसके ढंग ७ बनते हैं । जैसे मानो खाने की तीन चीजें रख लो नमक, मिर्च, ककड़ी । इनमें आप केवल नमक का स्वाद ले सकते, केवल मिर्च का स्वाद ले सकते, केवल ककड़ी का स्वाद ले सकते, नमक ककड़ी का स्वाद ले सकते, मिर्च ककड़ी का स्वाद ले सकते, नमक मिर्च का स्वाद ले सकते और नमक मिर्च ककड़ी का स्वाद ले सकते । तो ऐसे ही जब इस जीव के तीन धर्म स्वतंत्र विदित हुए तो उनके ७ रूप बन गए जानने के लिए ।

**प्रयोगात्मक पञ्चति से आत्मा की चार परखें—**उन सप्तभङ्गों में भी मुख्य प्रयोजन तीन से बन जाता है । द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य है, पर्यायदृष्टि से जीव अनित्य है । जब कुछ अनुभव करने बैठेंगे तो वह जीव न नित्य है, न अनित्य है अर्थात् अनुभव है । ऐसी तीन बातें अधिक हम आपके प्रयोग में आती हैं और साथ ही एक बात और समझना कि नित्य और अनित्य दोनों को समदृष्टि से परखा जायते एक प्रमाण बन जाता है तो हम चार प्रकार से अपनी परख कर पाते हैं, जैसे आदमी के दो आँखें हैं । उनमें से दाहिनी आँख बंद करके बाईं आँख से ही देखें तो यह भी एक देखने की पञ्चति है, बाईं आँख बंद करके दाहिनी आँख से देखे तो यह भी देखने की पञ्चति है, कोई दोनों आँखें खोलकर देखे तो वह भी पञ्चति है और कोई दोनों आँखों को बंद करके देखे तो वह भी देखने की पञ्चति है, उसमें चाहे स्वरूप देखे या सामान्य प्रतिभास देखे । तो जैसे देखने की चार विधियां हैं ऐसे ही समझने की भी चार विधियां हैं । द्रव्यार्थिकनय से जानिए, पर्यायार्थिकनय से जानिये, इन दोनों से जानिये और इन दोनों को छोड़कर केवल अपने अनुभव से जानिये । तो स्याद्वाद से वस्तु को समझकर यही प्रक्रिया बनती है कि वस्तु तो असल में द्रव्य पर्यायात्मक है । यह तो प्रमाण से समझा, पर उसके अन्तर्गत यह भी जानें कि द्रव्यात्मक तो द्रव्यार्थिकनय से है और पर्यायात्मक पर्यायार्थिकनय से है । तो अब क्या करना जानकर । भाई समझा गए और हर तरह से सर्व पदार्थों को जान लिया और साथ ही यह भी जान गए कि एक का दूसरे में कुछ भी नहीं हो सकता है, क्योंकि सब द्रव्य अपने-अपने द्रव्य पर्याय रूप हैं । तब सर्वपर का विकल्प छोड़कर और अपने आप में द्रव्यरूप हूँ, पर्यायरूप हूँ, द्रव्यपर्यायात्मक हूँ । ऐसे भी

विकल्प को छोड़कर जो निर्णय किया है उस निर्णय में जो स्व जीव पदार्थ आया है बस विकल्प तजकर उसही को निरखता रहे, ऐसे अपने सहज स्वरूप को अनुभवने से सम्यग्दर्शन होता, अथवा यहीं तो सम्यग्दर्शन है। ऐसे स्वभाव का आश्रय करने से जो बात बननी है वह सहज बनेगी, सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियां दुर्बल बनेगी, क्षीण होगी, नाश को प्राप्त होगी, सम्यक्त्व मिलेगा मगर करने का काम एक ही है, निजसहज स्वभाव को आत्मारूप से अनुभवना। तो यह सम्यग्दर्शन जहाँ प्राप्त हो गया है और उस आचरण में बढ़ने का प्रारम्भ किया है वही दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

दार्शनिक श्रावक के देवत्व का यथार्थ श्रद्धान—श्रावक के 11 दर्जों में पहला दर्जा है दार्शनिक श्रावक। इस प्रतिमा में सम्यग्दर्शन की मुख्यता है, चूंकि सम्यग्दर्शन के बिना कोई व्रत नहीं कहलाता। सम्यग्दृष्टि ही मोक्षमार्ग में गमन करता है, इस कारण प्रथम प्रतिमाधारी वही होता हैं जो सम्यग्दर्शन से सम्पन्न हो। इस सम्यग्दर्शन के लाभ के लिए क्या करना चाहिए? तो अभी बतलाया गया था कि वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान करना चाहिए और केवल इतना ही नहीं किन्तु देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान चाहिए। व्यावहारिक रूप से श्रद्धा तो होनी ही चाहिए तब सम्यग्दर्शन होगा, सो इससे सम्बंधित देव, शास्त्र, गुरु का थोड़ा वर्णन जानना आवश्यक है। देव वह कहलाता है जिसके आत्मा में गुण तो पूरे प्रकट हो गए हों और दोष रंचमात्र भी न रहा ही। भला बतलावो यदि यह कहा जाय कि आत्मा के गुण पूरे नहीं प्रकट हैं उसे देव कहते हैं, तो कोई मान लेगा क्या? यों तो हम आप सभी संसारी जीव हैं। आत्मा के गुण सबमें हैं और प्रकट हैं। पर पूर्ण प्रकट होना और अधूरे प्रकट होना इसमें बड़ा अन्तर है। दूसरी बात सोचिए यदि कहा जाए कि आत्मा में दोष रंच न रहें इसकी क्या आवश्यकता? जिसमें बहुत से दोष न रहें वह हमारा देव है। तो इसे भी कोई नहीं मान सकता। जैसे किसी भी दूसरे लोगों से जो रागी द्वेषी देव मानते हैं यदि इस तरह पूछा जाए कि जिसमें गुण पूरे न हों वह देव होगा क्या? तो वह कहेगा नहीं। जिसमें दोष पूरे न हटें वह देव होगा क्या? तो उत्तर होगा?... नहीं। भले ही कुल धर्म के हठ के कारण रागद्वेष करने वाले के रूप में ही देव को माने और भक्ति करें पर लक्षणतः भक्ति की जाय तो सबको सही बात कहनी पड़ेगी। तो देव वह है जिसके गुण समस्त प्रकट हो, पूर्ण प्रकट हों और दोष रंचमात्र भी न हों, तो समस्त गुण प्रकट हो गए, उसका प्रतिनिधि विशेषण है सर्वज्ञ। जो सर्व को जानने वाला है वही आनन्द वाला है, अनन्त दर्शन वाला है, पूर्ण विकास है, तो पूर्ण विकास की बताने वाला प्रतिनिधि रूप विशेषण है सर्वज्ञ और दोष रंचमात्र भी नहीं है, इसको बताने वाला शब्द है वीतराग।

वीतरागता में समस्त रागद्वेष से रहितता का घोतन—जहाँ राग न रहा वहाँ कोई दोष नहीं रहता, क्योंकि राग के अतिरिक्त जितने भी दोष हैं वे सब दोष राग मिटने से पहले खत्म हो जाते हैं। सभी दोषों के खत्म होने के बाद राग का दोष खत्म होता है। तो जहाँ वीतराग कहा वहाँ पूर्ण निर्दोष अर्थ अपने आप है। दोष कहलाता है मोहनीय कर्म के प्रभाव का। सो सम्यक्त्वघातक कषाय और आशय ७वें गुणस्थान तक में समाप्त हो जाता है, फिर ९वें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण कषाय संज्वलन क्रोध संज्वलन मान और संज्वलन माया समाप्त हो जाती हैं। और इतना सारा दोष खत्म हो गया सिर्फ संज्वलन लोभ रह गया। वह दशम

गुणस्थान के अन्त में समाप्त हो जाता है। तो जहाँ वीतराग कहा वहाँ पूर्ण निर्दोष अर्थ लेना चाहिए। तो जो वीतराग और सर्वज्ञ है वह देव है।

**मोक्षमार्ग में देवत्व के परिचय की अनिवार्य आवश्यकता**—देव का परिचय करना क्यों जरूरी है आत्मकल्याण चाहने वालों को? वह इसलिए जरूरी है कि आत्मकल्याण चाहने वाला पुरुष बनेगा क्या? अपने बारे में मैं क्या बनूँगा, कौनसा पद उत्तम है, जिसमें कि मैं निर्दोष और शान्त आनन्दमय रहूँ? वह है अरहंत देव पद पश्चात् सिद्ध देव पद। तो जो मैं बनना चाहता हूँ, जो मैं बनूँगा उसकी ही जब जानकारी नहीं है तो इसकी प्रगति होना मुश्किल है। अपने बारे में कौन नहीं जानता। पूरा न जाने युक्ति से न जाने फिर भी अंदाज करते। काहे के लिए व्यापार करते? उसे पता तो है कि मैं धनिक बनूँगा। काहे के लिए धर्म करते? मन्दिर में आने की रोज-रोज तकलीफ क्यों उठाते? तो संसार में जो उत्तम पद है उस पद के पाने के लिए उस प्रद का ध्यान करते जाते हैं यह उसका उत्तर है। जो लोग धन, पुत्र, मुकदमा आदिक के अभिप्राय से देव की पूजा दर्शन करने जाते हैं उनके तो पाप का उदय है। उन्हें कौन समझाए? कैसे समझ में आए? जब मोह पाप चल ही रहे हैं तो समझ में नहीं आ सकता। निर्वाच्छक होकर जो देव की भक्ति करेगा उसको ये बातें भी स्वयं प्राप्त होती हैं और जो असली चीज है कर्म क्षय, धर्मविकास सो वह होगा ही। जैसे किसान ऐसा कोई भी मूर्ख न मिलेगा कि जो भुस ही पैदा करने के लिए खेती करता है। किसी के आशय में यह बात नहीं रहती कि मुझे भुस पैदा करना है और वह मैं बेचूंगा, खेती करते हुए ऐसा किसी का अभिप्राय नहीं रहता। अभिप्राय यह रहता है कि मैं अन्न पैदा करूँगा। तो अन्न उत्पन्न करने के भाव से खेती करने वाले किसान को भुस तो अपने आप प्राप्त होता है। ऐसे ही वाच्छारहित आत्मस्वरूप की श्रद्धा सहित जो देवों की उपासना करता है उसको जब तक संसार शेष है तब तक सारी समृद्धियाँ अपने आप होंगी और धर्ममार्ग मिलेगा। सो अन्त में मोक्षपद प्राप्त होगा यह तो एक सर्वोक्तृष्ट पद है। तो देव की श्रद्धा सही होना बहुत आवश्यक है।

**धर्मसाधना में तत्त्वज्ञान की मूल आवश्यकता**—भैया, श्रद्धा तो है अनेक मनुष्यों को कि मैं धर्म करूँ और धर्म के लिए वे बहुत-बहुत परिश्रम भी करते हैं, पर चाहे उन परिश्रमों को आधा कर दें, किन्तु तत्त्वज्ञान के अभ्यास में अपना उपयोग अवश्य लगाएँ, तो यह उनके लिए लाभकारी उपाय है। एक बात बिल्कुल निश्चित समझना कि जो मनुष्य अपना ज्ञान पाने के लिए उमंग रखता है, दूसरों को ज्ञान देने के लिए उमंग रखता है। ज्ञान के साधनों को बढ़ाने की जिनकी उमंग रहती है वे जीव क्रमशः इस ज्ञान विकास को पाकर केवल ज्ञान पायेंगे। मनुष्यभव में महत्त्व दीजिए एक ज्ञान को। बाकी औरभी काम करने पड़ते हैं धर्म के नाम पर, पर वे सब आनुषंगिक हैं, और सब प्रकार के त्याग दान करते जायें और एक ज्ञान का लगाव न हो, ज्ञान के लिए हर्ष और उमंग न हो तो वह मार्ग नहीं मिल सकता जिससे संसार के संकटों से सदा के लिए छूट सकते हैं, बाकी का फल इतना अवश्य होगा कि थोड़ा शरीर अच्छा मिलेगा, धन मिल जाएगा, इज्जत मिलेगी मगर रहेंगे संसार के ही संसार में। ज्ञान की प्रीति बिना संसार के संकटों से छूटना असम्भव है। तो अब जीव का ज्ञान क्यों आवश्यक है? सो जो पद मुझे पाना है, धर्म के फल में जो बात मेरे मैं बनेगी उसका ज्ञान होने से उस काल

में भी मदद मिलती है और मार्ग भी स्पष्ट होता है ।

**ज्ञानस्वभाव का स्वरसतः विकास**—देव वह है जो तीन काल की गुण पर्यायों से सहित समस्त लोकालोक को प्रत्यक्ष जानता है । केवल सर्वज्ञ ही कह दीजिए देव क्योंकि वीतराग हुए बिना सर्वज्ञ नहीं हो सकता । तो जहाँ आगे की बात कह दी तो पहले की बात तो आ ही गई । यह आत्मा ज्ञानस्वभाव वाला है, इस पर उपाधि का आवरण है, विधिपूर्वक आवरण दूर होगा, तो ज्ञान में विकसित होना ही पड़ेगा । दूसरा कोई चारा ही नहीं, स्वभाव ही है ज्ञान का जैसे दरवाजे के किवाड़ में स्प्रिंग लगे हैं तो वे मानों बंद रहते हैं, कमरा सुरक्षित रहता है उसके किवाड़ों को यदि खोला जायतो जब तक आप हाथ से पकड़े खेंचे हुए हैं तब तक तो किवाड़ खुले रहेंगे, पर वह आवरण हट जाए, हाथ की उपाधि हट जाय तो उन किवाड़ों को तो लगना ही पड़ेगा, वह कमरा सुरक्षित रहेगा ही । स्वभाव है आत्मा का जानना । इन इन्द्रियों से जानना यह स्वभाव नहीं है । सामने की चीज जानना यह ज्ञान का स्वभाव नहीं है । केवल पौद्गलिक चीज ही जानना यह ज्ञान का स्वभाव नहीं है । ज्ञान का स्वभाव है आत्मीय शक्ति से जानना, ज्ञान का स्वभाव है मन से परे जानना, तीन काल की जानना और सबको जानना । स्वभावानुरूप विकास के विरुद्ध जो वह अधूरा ज्ञान चल रहा है वह उपाधि के कारण अधूरा है । स्वभाव तो आत्मा का सर्व सबको जानने का है, सो जानता है सर्वज्ञ, यदि सर्वज्ञ न होता तो आज अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञान हम आपको कहा से मिलता? आज आत्मा की चर्चा कर रहे हैं, द्रव्य की शक्तियों का परिचय बना रहे हैं, यह सब सर्वज्ञता के बिना नहीं बन पाता । कौन उपदेश करता? किस तरह जानना? इन्द्रिय ज्ञान में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह अतीन्द्रिय पदार्थों को जान ले । तो सम्यक्त्व लाभ के लिए देव, धर्म और गुरु इन तीन का परिचय करना आवश्यक है ।

**दार्शनिक श्रावक के धर्म के प्रति श्रद्धान्—वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा बताया गया जो धर्म है वह कल्याणकारी है** । धर्म पालनहार पुरुषों के भेद से दो प्रकार हैं । एकं परिग्रहसहित ज्ञानियों का धर्म और एक परिग्रहरहित ज्ञानियों का धर्म । परिग्रहसहित ज्ञानी श्रावक कहलाता है, परिग्रहरहित ज्ञानी मुनि कहलाता है । सो श्रावक का जो धर्म है वह इन ११ प्रतिमाओं के रूप में कहा जा रहा है । और ११ प्रतिमा से पहले है सम्यक्त्व । तो श्रावक धर्म ११ प्रकारों में पड़ा है । सम्यग्दर्शन और ११ प्रतिमा, सम्यग्दर्शन सहित प्रथम प्रतिमा हो तो वह पंचम गुणस्थान में कहा गया है । जो ज्ञानी पुरुष उत्तम, क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य इन १० धर्मों का धारी होता है, परिग्रहरहित है, सहज आत्मस्वभाव की ही जिसकी धुन है वह कहलाता है गुरु । ऐसे देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान होना व्यवहारतः श्रद्धान हुआ । चाहे गुरु आत्मस्वभाव के अनुभव के बिना हो किन्तु हो यथार्थ ज्ञान का धारी तो वह गुरु आत्मस्वभाव के अनुभव कराने का कारण बनकर सही श्रद्धान हो जाता है । तो सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के प्रयत्नशील पुरुष देव गुरु धर्म में प्रीति रखते हैं वे सम्यक्त्व को पायेंगे ।

**भव्य संज्ञी विशुद्ध परिणामी जागृत जीव के सम्यक्त्वलाभ की पात्रता—सम्यक्त्व को पाने वाला जीव किस**

परिस्थिति का होता है यह भी जानना ताकि अपने बारे में यह निर्णय बन जाए कि क्या हम सम्यक्त्व पाने की सामर्थ्य के अधिकारी है? कौन जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है? सर्वप्रथम जिसको सम्यक्त्व प्राप्त होगा वह चारों गतियों में से किसी भी गति में सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है, होना चाहिए भव्य जीव। नारकी जीव भी सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है, तिर्यज्ज्व भी सम्यक्त्व प्राप्त करता है, मनुष्य और देव भी सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं। एक बात और जानना कि सम्यक्त्व पाने के लिए अधः करण, अपूर्व करण, अनिवृत्तिकरण परिणाम होता है और यह परिणाम वह जीव प्राप्त करता है जिसके क्षयोपशमलब्धि हो, देशनालब्धि हो, विशुद्धिलब्धि हो और प्रायोग्यलब्धि प्राप्त की हो। तो उपदेश मिला है जिसको, सम्यक्त्व वही पाता है मगर किसी को पूर्वभव में उपदेश मिला काम देता किसी को उसही भव में मिला उपदेश काम देता। अब आप जानें कि उपदेश सुनना कितना लाभकारी है। देशनालब्धि पाए बिना सम्यग्दर्शन किसी को नहीं होता चाहे पूर्वभव में देशनालब्धि मिली हो चाहे इस भव में। यथार्थ ज्ञान वाली बात सुनना समझना यह इस जीव के लिए बहुत लाभकारक बात है। यह संस्कार कभी काम देगा। तो सम्यक्त्व पाने के अधिकारी चारों गतियों के जीव है, भव्य हैं और वे संज्ञी हैं, असंज्ञी जीवों में उपदेश धारण करने का सामर्थ्य नहीं होती। वह पुरुष विशुद्ध है जिसको शुभ लेश्यायें हो, विशुद्ध परिणाम बढ़ रहा ही वह जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है। टीकाकार ने बताया है कि निद्रायें ५ होती है। दो निद्रा तो हल्की होती, निद्रा और प्रचला और तीन निद्रायें गहरी होती है, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि। ऐसी तीन महानिद्राओं में रहने वाला जीव सम्यक्त्व नहीं प्राप्त कर सकता। संस्कृत टीकाकार के इस स्पष्टीकरण से एक समस्या और सुलझ गई है। यहाँ बताया गया है कि मुनि की निद्रा अन्तर्मुहूर्त होती है छठे गुणस्थान में, ७वें में निद्रा हो नहीं है। तो लोगे जब देखते हैं कि ऐसा कौन मुनि है जो दो चार सेकेण्ड नींद लेवे और फिर जग जाय? पर जिस निद्रा को बताया गया है वह तीव्र निद्रा है जो सम्यक्त्व में बाधक है, वह उच्च संयम में बाधक है ऐसा यह जीव जागृत दशा में सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

भव्य, संज्ञी सुविशुद्ध जागृत जीवों में भी पर्याप्त निकटसंसारी के सम्यक्त्वलाभ की पात्रता—श्रावक की ११ प्रतिमाओं में मूल आधारभूत प्रतिमा दर्शन प्रतिमा है, दर्शन प्रतिमा में जीव निरतिचार सम्यग्दर्शन और निरतिचार मूल गुण का धारी होता है, जिसमें यह सम्यग्दर्शन का प्रकरण चुल रहा है। सम्यक्त्व से उत्पन्न होने वाला जीव चारों गति का हो सकता है। भव्य हो, संज्ञी हो, परिणाम विशुद्धि बढ़ रही हो और महानिद्राओं में न हो और वह जीव पर्याप्त होना चाहिए। कोई जीव अपना भव छोड़कर दूसरा भव प्राप्त करता है तो चूँकि पहले शरीर छूट चुका सो अब रास्ते में विग्रहगति में यह जीव अपर्याप्त है ही, पर जिस जगह नया देह धारण करेगा उस जगह पहुंचने पर भी चूँकि नये आहार वर्गणाओं को शरीर रूप बनाने में है। तो जब तक वह नयी आहार वर्गणा का पिण्ड को शरीर रूप बनने की शक्ति नहीं पाता तब तक वह अपर्याप्त कहलाता है। अपर्याप्त अवस्था में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं होती। पर्याप्त हुए बाद देव और नारकियों को तो अन्तर्मुहूर्त बाद सम्यक्त्व हो सकता है। तिर्यज्ज्वों को किसी को तीन दिन में किसी को और अधिक दिन में सम्यग्दर्शन हो सकता है, किन्तु मनुष्यों को ८ वर्ष में सम्यक्त्व हो सकता है, नया सम्यक्त्व होना हो उसकी बात कहीं जा रही है। पञ्चेन्द्रिय

संज्ञी तिर्यज्ज्वों में जिनकी आयु बहुत छोटी होती है और वे तीन दिन में ही शरीर से यथासंभव पुष्ट हो जाते हैं इस कारण उन्हें जल्दी सम्यक्त्व हो सकता है। पर मनुष्यों के सम्यक्त्व ८ वर्ष की आयु होने पर उत्पन्न हो पाता है। तो ये ८ वर्ष गर्भ से निकलने के बाद नहीं किन्तु जब से वह गर्भ में आया, तब से ही आयु वाला माना जाता है। जन्म उस समय हुआ जब जीव गर्भ में आया मनुष्य को तब ही से कहलाया। तो पर्याप्त होना चाहिए तब वहाँ सम्यक्त्व धारण करने की पात्रता होती है। यह जीव संसार के निकट है। जिसके सम्यक्त्व होता है वह कुछ ही समय बाद निर्वाण को प्राप्त करता है तो यहीं संसार की निकटता कहलाती है। तो जिस जीव का संसार निकट है वह जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

सम्यक्त्व होते ही अधिक से अधिक संख्या अर्द्धपुद्गल परिवर्तनकाल ही शेष—सिद्धान्त में बताया गया है कि जब संसार अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन रह जाता है तब सम्यक्त्व होता है। पुद्गल परिवर्तनकाल भी बहुत बड़ा होता है, उसमें भी अनगिनते वर्षों का (सागरों का) काल रहता है। किन्तु एक सीमा बन गई, अब यह जीव मोक्ष जाएगा।

मोक्ष पाने के निश्चय का आदर—एक कथानक है कि एक श्रावक भगवान के समवशरण में वंदना के लिए जा रहा था, रास्ते में एक मुनि महाराज मिले तो मुनि की वंदना की। तब मुनि महाराज बोले कि तुम समवशरण में जा रहे हो तो वहाँ गणधर देव से इतना पूछ आना हमारे विषय में कि कितने भवशेष रह गए। तो वह श्रावक वंदना के लिए गया और गणधर देव से पूछा कि अमुक मुनिराज के कितने भव संसार में शेष रह गए? तो उत्तर मिला कि वह मुनि जिस वृक्ष के नीचे बैठा मिलेगा उस वृक्ष में जितने पत्ते हैं, उनकी जितनी गिनती है उतने भव संसार में उसके बाकी रहे। तो यह बात सुनकर श्रावक बड़ा खुश हुआ और पहुंचा मुनि महाराज को खुश खबरी सुनाने के लिए। पहले तो वह मुनिराज एक छेवले के पेड़ के नीचे बैठे हुए थे, उसमें कुल १०-१२ ही पत्ते थे, परन्तु जिस समय वह श्रावक मुनिराज के पास पहुंचा उस समय वह इमली के विशाल पेड़ के नीचे बैठे हुए थे। इस दृश्य को देखकर वह श्रावक माथा धुनने लगा। भला बताओ एक विशाल इमली के पेड़ के नीचे कितने पत्ते होंगे, क्या कोई अंदाज लगा सकता? उस श्रावक को माथा धुनते देखकर मुनिराज ने पूछा—कहो, माथा क्यों धुनते? क्या बताया गणधर देवने मेरे भवों के बारे में? तो वह श्रावक बोला-महाराज गणधर देव ने तो यह बताया था कि मुनिराज जिस पेड़ के नीचे बैठे मिलें उतने भव शेष हैं, तो इमली के पेड़ के नीचे आपको बैठा हुआ देखकर मुझे दुःख हुआ कि आपके अभी अनगिनते भव शेष हैं। तो मुनिराज बोले—अरे खेद क्यों मानते? यह तो खुशी की बात है। इस अनन्तकाल के सामने कम से कम कुछ काल की सीमा तो बन गई। अनन्तकाल में तो भवों का अन्त ही नहीं आता, पर अब मेरे भवों का अन्त तो आ गया। तो कोई जीव सम्यक्त्व पाकर थोड़े ही मिनटों में मोक्ष जा सकता, पर ज्यादह संसार में रुलना पड़ेगा तो अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन तक रहेगा। वह संसार तट उसका निकट हो गया, ऐसा ज्ञानी जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

सही ज्ञान व सम्यग्ज्ञान—बताया यह गया है कि सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्ज्ञान होता है, किन्तु यह सोचे

कि सम्यग्दर्शन होने से पहले जो ज्ञान होता है, जिस ज्ञान वाले को सम्यग्दर्शन होगा, क्या वह ज्ञान विपरीत है? क्या वह देह को जीव मान रहा है? नहीं, विपरीत तो नहीं है। ज्ञान उसका सही है, ७ तत्त्वों का यथार्थ बोध है। देव, शास्त्र, गुरु का सही स्वरूप जानता है। आत्मा के स्वरूप को भी जानता है। ज्ञानतो सब सही चल रहा है जिस जीव को सम्यग्दर्शन होगा, पर वह ज्ञान सही होकर भी सम्यग्ज्ञान क्यों नहीं कहा गया? उसका कारण यह है कि उस ज्ञान से जो जानना है, उसकी अनुभूति नहीं हुई है, अनुभूति रहित ज्ञान है, वह जो कि सम्यक्त्व से पहले है, मगर है सही। अनुभव हो जाने पर तत्काल सम्यक्त्व हुआ। तत्काल ही वह सम्यज्ञान कहलाने लगा, तो ज्ञानी जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

**सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण**—अब तक सम्यक्त्व क्यों नहीं हुआ? उसकी कारण उपादान की ओर से तो यह है कि यह जीव विषय कथायों में लगा रहा, देह को अपना मानता रहा, इस कारण उसने सम्यक्त्व नहीं पाया, पर ऐसा भी करता क्यों रहा? यह भी तो प्रश्न किया जा सकता है। तो निमित्त दृष्टि का उत्तर दिए बिना समाधान न बनेगा। तो निमित्त की ओर से यह उत्तर है कि सम्यक्त्व का घात करने वाली ७ प्रकृतियां हैं उन ७ प्रकृतियों का उदय रहा। उपशम, क्षय, क्षयोपशम न हो सका इस कारण सम्यक्त्व न हुआ। किसी भी पदार्थ में कोई नए ढंग की बात होती है तो उसकी कोई परद्रव्य की दशा निमित्त कारण हुआ करती है। सम्यक्त्व घातक प्रकृतियां हैं मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति, अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ। इन ७ प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व होता है और ७ प्रकृतियों के क्षयोपशम से क्षयोपशमिक सम्यक्त्व होता है व उनके क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। क्षायिकसम्यक्त्व तो केवली भगवान के पादमूल में मनुष्यों को ही हो सकता है। कोई यदि श्रुतकेवली है तो उसको अपने आप क्षायिक सम्यक्त्व हो सकता है। उसे यह अनिवारित नहीं है कि केवली का पादमूल मिलने पर ही हो।

**सम्यक्त्व होते समय की निमित्तरूप कर्मदशा का निरूपण**—उक्त तीन सम्यक्त्व में सबसे पहले उपशम सम्यक्त्व हुआ करता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के ७ प्रकृतियों की सत्ता नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व और सम्यक्प्रकृति का बंध नहीं हुआ करता, किन्तु उपशम सम्यक्त्व होने पर तुरन्त ही जो दबा मिथ्यात्व है उसके तीन टुकड़े हो जाते हैं—कुछ मिथ्यात्व रहता है, कुछ वर्गणायें सम्यग्मिथ्यात्व हो जाती हैं, कुछ कर्म वर्गणायें सम्यक्प्रकृति हो जाती हैं, तब ७ की सत्ता रहती है। सो अनादि मिथ्यादृष्टि के ५ प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व होता है। अनुद्वेलितसादिमिथ्या दृष्टि के इन ७ प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व होता है। ऐसा उपशम सम्यक्त्व कब होता है जब जीव के कर्मबन्धन अन्तः कोङ्काकोङ्की सागर की स्थिति का होता है वहाँ उपशम सम्यक्त्व होता है। यह स्थिति बहुत कम है मिथ्यादृष्टि जीव में, नहीं तो ७० कोङ्काकोङ्की सागर तक के कर्म बंधते हैं एक समय के खोटे भाव में। ७० कोङ्काकोङ्की न रहा, एक कोङ्काकोङ्की भी न रहा, उससे भी बहुत कम हैं। इतनी स्थिति के कर्म जब बंधने लगते हैं जब जीव को उपशम सम्यक्त्व होता है। इतनी छोटी स्थिति के कर्म बंधने का क्या कारण है! प्रायोग्यलब्धि। सम्यक्त्व पाने के लिए ५ लब्धियां हुआ करती हैं। क्षयोपशमिक लब्धि याने कर्म का हल्कापन आ जाना, विशुद्धिलब्धि परिणाम में निर्मलता जगना, देशनालब्धि

में आचार्य आदिक उपदेशकों का उपदेश सुनने को मिलना और उस उपदेश का अर्थ समझ पाना और हृदय में अवधारण होना, प्रायोग्यलब्धि एक ऐसा विशुद्ध परिणाम है कि जिसमें कर्म की स्थिति का बंध हल्का होने लगता है और यहाँ ३४ बार ऐसा अवसर आता है जिसमें इतना हल्का हुआ तो नरकायु न बंधेगी, और हल्का हुआ तो अन्य प्रकृतियाँ न बंधेगी । इस प्रकार ३४ बार में ऐसी प्रकृतियों का भी बंध रुक जाता है कि उनमें से कई प्रकृतियाँ ऐसी हैं कि जिनका छठे गुणस्थान में तो बंध होने लगेगा पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न करने वाले मिथ्यादृष्टि के बंध न हो सकेगा, इसको कहते हैं बंधापसरण, इसे सम्वर नहीं कहते । सम्वर तो सम्यक्त्व पाये बिना न हो पाएगा, पर उस मिथ्यादृष्टि जीव के भी इतने निर्मल परिणाम प्रायोग्यलब्धि में चले कि उस काल में अनेक प्रकृतियाँ बंध से रुक गई, और भले ही सम्यक्त्व होते ही बंधने लगेंगी । उसके भीतर की विशुद्धि निरग्निये किस दर्जे की विशुद्धि है । बात भी ऐसी है कि सम्यग्दर्शन होते समय सम्यक्त्व होने पर जितना कर्म भार हट जाता है उसके बाद जो कर्म भार जीव के साथ रहा है वह समझिये कि एक लाख रुपये में एक रुपये बराबर जैसे किसी पर एक लाख रुपये का कर्जा हो और ९९ हजार ९९९ का कर्जा चुका दिया, बस एक रुपये का कर्जदार रहा, तो उस भार के आगे यह क्या है ऐसे ही सम्यग्दर्शन होने पर जितने कर्म दूर हुए हैं, जो बोझ हटा है उस बोझ के सामने रहा सहा बोझ न कुछ चीज है फिर भी जब तक शेष कर्म है तब तक निरावरणपने का लाभ तो रुक जाता है । सम्यक्त्व होने पर यह जीव इतना विशुद्ध हो जाता है ।

**पञ्चम गुणस्थान में प्रविष्ट जीव की स्थिति—**कोई जीव मनुष्य या तिर्यञ्च उपशम सम्यग्दृष्टि हो और उसने प्रथम प्रतिमा का ब्रत भी धारण किया हो तो वह पञ्चम गुणस्थान में आया हुआ कहलाता है । तिर्यञ्चों के भी ब्रत तो होता है, पर जैसे मनुष्यों को कहा गया है कि सामायिक करें, प्रोष्ठोपवास करें और प्रतिमा पालें, इस तरह का तो नहीं होता, पर समझ लीजिए कि वह दर्शन प्रतिमा जैसा ही ब्रत है । कितने ही तिर्यञ्च मांस खाना छोड़ देते हैं और ऐसी जगह का पानी पीते हैं जहाँ सूर्य की गर्मी रहती हो, ऐसे तालाब के किनारे पर ऊपर से पानी गिर रहा हो, ऐसी जगह में पानी पीते हैं, न करे जो फल मिलें उन्हें खाते हैं अथवा सूखी घास खाते हैं, मांस का त्याग कर देते हैं सो पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च भी श्रावक होते हैं, याने पशु पक्षी भी श्रावक होते हैं तो जितना काम पशुपक्षियों का श्रावक अवस्था में होता है उतना काम तो इस गृहस्थ को करना ही चाहिए । कितने ही जीव तिर्यञ्च या मनुष्यों में क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि होते हुए पहली प्रतिमा का ब्रत पालते हैं । क्षयोपशम सम्यक्त्व का अर्थ है कि उन ७ प्रकृतियों में से अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व इन ६ प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय होता है, अर्थात् ये ६ प्रकृतियाँ उदय में तो आने को हैं मगर एक समय पहले से ही वे प्रकृतियाँ अन्य रूप बदल जाती हैं और उदय में आती है उदय के ठीक समय में उन ६ का अभाव है । और वे ६ प्रकृतियाँ सत्ता में तो पड़ी है ही । कहीं उनकी उदीरणा हो जाए तो सम्यक्त्व न रह सकेगा । तो जो सत्ता में ६ प्रकृतियाँ हैं वे उदीरणा में न आ सकें याने समय से पहले उदय में न आ सकें इसका नाम है उपशम सो इनका उपशम हो और सम्यक्प्रकृति का साथ में उदय हो तो वहाँ क्षयोपशमिक सम्यक्त्व होता है । मगर वह सम्यग्दृष्टि श्रेणी पर नहीं चढ़ सकता । क्षयोपशम सम्यक्त्व ७वें गुण स्थान तक

ही होता है, पर उत्कृष्टतया रहता है यह ६६ सागर पर्यन्त। और किसी मनुष्यगति के जीव में सम्यक्त्व है और अष्टमूल गुण का निरतिचार पालन है वह भी पञ्चम गुणस्थान में आया समझिए।

**क्षायिक सम्यक्त्व की अविनश्वरता तथा सम्यगदृष्टि की अन्तः उमंग—**इस जीव ने उपशम सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को अनगिनते बार भी प्राप्त किया, फिर भी मिट जाता। चाहे अन्य सम्यक्त्व होकर मिटे या मिथ्यात्व होकर मिटे, किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व जिसको हो जाय वह नहीं मिटता और नियम से उसका यथा संभव मोक्ष हो जाता है। उसे अधिक से अधिक समय रहना पड़ता है तो तीन चार भव तक ही। क्षायिक सम्यक्त्व पाये बिना किसी का निर्वाण नहीं होता। औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो भूमिका है। क्षयोपशम सम्यगदृष्टि ही क्षायिक सम्यक्त्व करता है। तो जिसको सम्यक्त्व हो गया उसकी क्या भावना बन जाती है, कैसी उसकी दृष्टि होती है वह लौकिकजनों से विलक्षण है। वस्तु को अनेकांतरूप में निरखता है। जो भी दिखते हैं वे सदा रहेंगे और उनकी क्षण-क्षण में नयी-नयी अवस्थायें बनेंगी। यह सभी वस्तुओं का स्वरूप है। ऐसा जानने से अपने बारे में भी यह उमंग बनती कि यह मैं आत्मा सदा रहूँगा और चूँकि मेरी समय-समय पर नई-नई परिणतियाँ हुआ करती हैं। तो मैं इस संसार परिणति को मेट सकता हूँ और शुद्ध परिणति को पा सकता हूँ। यदि मान लें कि यह जीव एकसा ही रहता, नई-नई पर्यायें नहीं रहतीं तो इस समय तो यह जीव भोंदू बना बैठा है। पर भोंदू बनकर सदा रहना यह वस्तु का स्वरूप नहीं है। जीव सदा रहेगा, पर नई-नई अवस्थायें पाता है, तो मैं संसार अवस्था को त्यागकर मुक्त अवस्था को प्राप्त कर सकता हूँ ऐसी उसकी उमंग रहती है।

**सम्यगदृष्टि के सप्ततत्त्वविषयक श्रद्धान का संक्षिप्त दिग्दर्शन—**सम्यगदृष्टि जीव, जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्बर, निर्जरा और मोक्ष इन ७ तत्त्वों का यथावत् श्रद्धान रखता है। मैं जीव हूँ, जीव के साथ अनादि से कर्मधारा चली आयी है, पौद्गलिक कर्म वे अजीव हैं उन पौद्गलिक कर्मों का उदय होने पर उनमें अनुभाग खिलता, पर उसका प्रतिफलन मुझ में होता है, यह भावाश्रव है और ऐसा होने से नये कर्म आते हैं यह द्रव्याश्रव है। जब यह मैं अपने सहज स्वभाव की सम्हाल कर लेता है तो यह है भावसम्बर और उस समय नवीन कर्म का आश्रव नहीं होता यथायोग्य वह है द्रव्यसम्बर। जब यह जीव अपने आपके स्वरूप की सम्हाल में स्थिर रहता है तो अपने आप विकार विभाव ये झङ्गने लगते हैं। संस्कार भी मिटने लगते, यह है भावनिर्जरा। और उस समय बंधे हुए कर्म झङ्गते हैं, यह है द्रव्यनिर्जरा। भावनिर्जद्वा और द्रव्यनिर्जरा मानते-मानते जिस समय समस्त कर्मों का क्षय हो चुकता है और यह आत्मा समस्त कर्मों से छूट जाता है तो आत्मा का छूट जाना यह है मोक्ष, कर्मों का अलग हो जाना यह है द्रव्यमोक्ष। इस प्रकार सामान्य तौर से इसही को और विशेष रूप से यह जीव श्रद्धान करता है जिसके अनुसार आचरणभी बनता है और उस आचरण के प्रसाद से यह नवीन कर्मों को आने नहीं देता, पूर्वबद्ध कर्म झङ्गने लगते, तो कोई काल आता है कि यह संसार की सर्व विपदाओं से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

**सम्यगदृष्टि के पुत्रकलत्रादि सर्वअर्थों में गर्व का अभाव—**जिस भव्य आत्मा को अपने आपके सही सहजस्वरूप

का अनुभव हुआ है, जिसका यह पूर्ण निर्णय हो गया हैकि मैं सहज ज्ञानस्वभावमात्र हूँ, मैं अमूर्त हूँ, रूप रस गंध स्पर्श से रहित हूँ, और सहज प्रतिभास मात्र हूँ, ऐसा अनुभव कर चुकने वाला जीव पुत्र स्त्री आदि के समस्त पदार्थों में गर्व नहीं करता। जिसको देह दृष्टि है और देह के नाते ही सारे नाते मान रखे हैं, यह मेरा पुत्र है क्योंकि यह मुझसे ही तो पैदा हुआ, मेरे ही कुल का है, मेरे ही घर का है। ऐसा कुछ भी विश्वास रखकर जो मानता हैकि यह मेरा है उसको गर्व होता है। मैं पुत्रवान हूँ, ऐसे कुटुम्ब वाला हूँ, ऐसा वह गर्व करता है लेकिन सम्यग्दृष्टि जीव अपने कुटुम्बीजनों को निरखकर गर्व नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि ये सब जीव जुदे-जुदे हैं, अपने-अपने कर्म का फल भोगते हैं, इससे मेरा क्या सम्बंध है? ज्ञानी जीव यदि अकेला हो जाय, मतलब पुत्रादिक न हों अथवा स्त्री पुत्रादिक न हो, केवल अकेला रह जायते वह उसमें एक बड़ी प्रसन्नता का अनुभव करता है, क्योंकि उसे अपना शरण परमात्मतत्त्व दृष्टि में आया है। यह हूँ सर्वस्व, मैं यह हूँ पूर्ण ज्ञानानन्दमय। पर से जो लगाव रहता था, मोह रहता था वहतो निरन्तर पाप का ही बंध चल रहा था और उसमें अनेक उलझनें रहा करती थीं। अब मैं स्वतंत्र हूँ। एक निज सहज परमात्मतत्त्व की उपासना में रहूंगा, उसे बाह्य सम्बन्ध का गर्व नहीं हो सकता।

**सम्यग्दृष्टि के बाह्य अर्थप्रसंगों से विवक्तता का अनुभव—**यह ज्ञानी जीव तो अपने को तृणमात्र जानता है अर्थात् मैं कुछ नहीं हूँ बाहर के नाते से समझ रहा ऐसा। अन्दर के नाते से तो जानता है कि मैं अनन्त ज्ञानानन्द का पुज्ज हूँ पर बाह्य नाते की दृष्टि से यह अनुभव करता कि मैं कुछ नहीं हूँ, तृणमात्र हूँ। साधारण लोगों को अपने कुल पर घमंड हो जाता, ज्ञान पर, धन पर घमंड हो जाया करता जिससे अपने को कुछ मानते हैं कि मैं खास हूँ, बड़ा हूँ, पर ज्ञानी जीव इन बाहरी संग प्रसंगों के कारण अपने को बड़ा अनुभव नहीं करता, वहतो अपने को तुच्छ तृणमात्र मानता है। ज्ञानीपुरुष अपने संतोष भाव में ठहरता है। यह पहली प्रतिमा का लक्षण चल रहा है जिसमें सर्वप्रथम यह बताया कि सम्यग्दर्शन से सम्पन्न हो और फिर निरतिचार मूल गुण हो तो वह पहली प्रतिमा का धारी होता है। वह हर बात की समझ रखता कि मेरी भलाई किसमें है। ज्ञानी पुरुष को किसी भी बात पर घमंड नहीं होता बाह्य संग प्रसंगों के कारण। यह सब मायाजाल है। ज्ञानावरण का क्षयोपशम मिले, अन्तराय का क्षयोपशम हो तो कुछ संग प्रसंग की बात मिल गई, अब इसमें मेरा हित क्या है? मेरे आत्मा का कोई दूसरा जिम्मेदार नहीं, ठेकेदार नहीं, यहाँ कोई भले ही अपने को स्त्री पुत्रादिक परिजनों का या दुनिया का ठेकेदार माने, यह तो उसके कल्पना की बात है। पर-पर है कोई किसी का जिम्मेदार नहीं। जिस पर जैसा उदय आता है उसे वही केवल भोगता है। और अपने आत्मस्वरूप को सम्हाले तो वही कर्म का क्षय करके निर्वाण पाता है। यहाँ दूसरे का कुछ नहीं है मुझ में। मैं भी किसी दूसरे का कुछ नहीं हूँ। सर्व जीवों का अपनी-अपनी योग्यतानुसार योग्य निमित्त पाकर काम चलता रहता है, यह है पहिचान, सम्यक्त्व है अथवा नहीं, इसकी परख करने की।

**सम्यग्दृष्टि के मोहविलास के प्रति हेयत्वबुद्धि—**यह ज्ञानी पुरुष अपनी करतूत के बारे में यह निर्णय रखता हैकि यह सब मोह का विलास है। इन्द्रिय के विषयों में जो प्रवृत्ति होती रहती है, सुहावना स्पर्श छूना, अच्छा

लगना, सुहावना स्वाद लेना, सुगंध का पसंद होना या दुर्गम्य से बचना, रूप का अवलोकन करना, कर्णप्रिय राग रागनी के शब्द सुनना आदिक ऐसी जो कुछ वृत्तियां होती हैं वह सब मोह का प्रसार है, सार कुछ नहीं है। जो विषयों में आसक्त है उसकी तो संसार में जन्ममरण की परम्परा बनेगी। ज्ञानी जीव अपनी चेष्टाओं के बारे में इस तरह देखता है जो कुछ मैने किया वह सब अज्ञान की चेष्टा हुई। यह जानता है ज्ञानी। अपने बारे में सोचो प्रातः काल जल्दी उठे, नहाये धोये, कुछ कुटुम्बीजनों से बात हुई, फिर मंदिर गए, पूजा की, दर्शन किया, स्वाध्याय भी कर रहे, फिर लोगों से मिलने का भी काम कर रहे, अच्छे बुरे सभी काम करते, वह सब मोह की चेष्टा है, अज्ञान की चेष्टा है क्योंकि ज्ञान की चेष्टा तो केवल जाननहार रहना है। अपनी इन चेष्टाओं में क्या आप मैं जाननहार ही रहे? क्या मैं जाननहार ही रहता हूं? उसमें कुछ इष्ट अनिष्ट की बुद्धि नहीं जगती क्या? जगती है, तो वह अज्ञानचेष्टा है। अज्ञान चेष्टा दो प्रकार की होती है—(१) मिथ्यात्व में होने वाली अज्ञान चेष्टा और (२) सम्यक्त्व होते हुए भी रागवश होने वाली चेष्टा। अज्ञानचेष्टा है। पहली ज्ञान की विपरीतता के कारण दूसरी ज्ञान की कमी के कारण अज्ञान चेष्टा है।

अपनी सर्वविकल्प चेष्टाओं को अज्ञानचेष्टा समझने वाले ज्ञानी का अन्तः प्रसाद—अपनी सारी चेष्टाओं में एक यही निर्णय रखिए कि यह अज्ञानचेष्टा है फिर देखिये कितना सुन्दर समय व्यतीत होगा। किसी से विवाद विरोध कभी हो ही नहीं सकता। जो अपनी इन सारी चेष्टाओं को अज्ञान चेष्टा मानता है—मेरा दुनियां में कोई विरोधी नहीं, भले ही इसका ठेका तो नहीं हैकि कोई इसे विरोधी माने या नहीं माने पर इसको कोई दूसरा अपना विरोधी नहीं जंचता। अपनी गलती स्वीकार कर रहा ज्ञानी। धर्म कायों में भी जो मन लग रहा है बाह्य साधनों में उन तक को भी जो मूल समझ रहा वह क्या अपनी गलती करके अपने को बुद्धिमान समझेगा? आप भाषण सुन रहे, मैं कुछ बोल रहा। बताओ यह ज्ञानचेष्टा है कि अज्ञानचेष्टा है? अज्ञानचेष्टा है। बड़े अच्छे भावों से बैठकर आप सुन रहे, मैं भी एक धर्मबुद्धि से बोल रहा हूँ मगर इस प्रसंग में भी जो मन चल रहा है, सोच रहे हैं, वचन बोल रहे हैं, शरीर की चेष्टायें हो रही है ये क्या ज्ञान चेष्टायें हैं? ये भी अज्ञान चेष्टायें हैं। कितना गहरा है यह चैतन्यस्वरूप कि मुनि भी हो गए, योग्य कार्य भी कर रहे और सही मुनि है, पर वह भी अपना विहार करने को आहार करने को, बोलने को, आवश्यक काम करने को, इन तक को भी समझता हैकि यह अज्ञान चेष्टायें हैं। और इसमें विशेष क्या समझाना, बस यह मात्र जाननहार रहे, रागद्वेष के कोई कण न आये इसे कहते हैं ज्ञानचेष्टा। अब अंदाज करना चाहिए कि हम आपकी रात्रि दिन की सारी चेष्टायें अज्ञान चेष्टायें हैं। और फिर उन चेष्टाओं पर गर्व आये तो वह मिथ्यात्व का उदय समझिये। अज्ञानचेष्टा होने से कहीं सम्यक्त्व नहीं बिगड़ा, मगर अज्ञान चेष्टा होकर भी उस पर घमंड रहे तो उसका सम्यक्त्व बिगड़ गया समझिये। भैया, कितना अपने को सावधान रखना है? इस भीतरी प्रकाश को निरखकर निर्णय रखिये। वह इस सब मोह विलास को हेय मानता है। क्या ज्ञानी ऐसा सोचता है? लोग सुनने आते हैं, मैं बोलता हूँ, लोग बड़े भाव से सुनते हैं, बड़ा अनुराग रखते हैं, तो मैं ऐसा बोलता ही रहूँ सदा, क्या ऐसा ज्ञानी पुरुष अपने चित्त में धारण करेगा? या मैं जो धर्मप्रसंग करता हूँ, समारोह किया, जलसा किया, यात्रा की तो क्या वह यह सोचता हैकि

ऐसा ही मैं करता रहूँ इस भव में?

ज्ञानी की समस्त शुभ अशुभ भावों से उपेक्षा—भैया, ज्ञानी की तो प्रभु पूजा में भी यही आवाज है कि “तब पादौमम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वये लीनं । तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाणसम्प्रासिः ।” हे प्रभु तुम्हारे चरण कमल मेरे हृदय में रहे, मेरा हृदय आपके चरणों में रहे जब तक कि मोक्ष की प्राप्ति न हो । कोई अगर यहाँ वहाँ ही आदमी सुनता होगा तो कहता होगा कि देखो यह प्रभु के आगे भी खुदगर्जी चाहने जैसी बात कर रहा । जब तक मुझे मोक्ष न मिले तब तक मेरी भक्ति आप में रहे, यह तो एक अपने स्वार्थ साधना की बात कहलायी । भला बतलाओ, इस प्रकार की बात सुनकर उसे कोई अच्छी निगाह से देखेगा क्या? यहाँ यह ज्ञानी भक्त प्रभु को कह रहा है कि आपके चरण मेरे हृदय में तब तक रहें जब तक कि मुझे मोक्ष प्राप्त न हो । यदि ऐसा कहे कोई प्रभु को कि हे प्रभो! मैं भव-भव में सदैव इस संसार में आपकी ही मूर्ति का अभिषेक करूँ और आपके ही आगे अष्ट द्रव्यों से मैं पूजा करता रहूँ । बताओ यह सच्ची भक्ति है क्या प्रभु की? यह तो मिथ्यात्व की वासना है । भव-भव में चाहता है यह राग, प्रभु की पूजा, दर्शन यद्यपि यह मन्द कषाय है, पर कषायरहित दशा नहीं है और लौकिक कार्य, लड़ाई-झगड़े, बोलचाल या घर में प्रेम रखना, अनुराग, यह अशुभ कषाय है, तीव्र कषाय है । कषाय तो सभी करते हैं, मगर प्रभु भक्ति, प्रभु पूजा मंद कषाय है । करेगा ज्ञानी प्रभु की भक्ति, मगर यह भाव न रहेगा कि मैं सदैव प्रभु का ऐसा भक्त रहूँ, ऐसा यदि शुभ भाव का भी लगाव है तो वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, उसको कुछ पता नहीं है । इसलिए ऐसी आस्था रख रहा है ।

ज्ञानमात्र संचेतन के अतिरिक्त अन्य चेष्टाओं की हेयता—अब आप समझिये अज्ञान चेष्टाओं का कितना बड़ा फैलाव है? जैसे मान लो सारे काम एक करोड़ है । उस एक करोड़ में एक ज्ञाताद्रष्टा रहने का भी काम धर लो तो उनमें से एक काम तो है ज्ञान चेष्टा और ११ हजार १११ चेष्टायें अज्ञान चेष्टायें हैं । उस आन्तरिक शुद्ध तत्त्व पर दृष्टि लाता है ज्ञानी और इसी कारण सब संग प्रसंगों को हेय मानता है । कोई रईस बीमार हो जायते उसके बड़े शौक बढ़ा दिए जाते हैं । बड़ा अच्छा कोमल गद्दा होना चाहिए । सुगंधित पदार्थ अधिक होना चाहिए, दिन में दो-दो तीन-तीन बार डॉक्टर आना चाहिए । मित्रजनों का आने-जाने का तांता लगा रहता है, मित्रजन आ आकर बड़ी अच्छी वार्ता करते रहते हैं, यों बाहरी रूप से अगर देखा जाय तो उस बीमार रईस की बड़ी सेवायें हो रही हैं पर उस रईस रोगी के दिल से पूछो कि क्या आपको ऐसी सेवायें हमेशा मिलते रहना पसंद है । तो शायद वह यही कह उठेगा कि मुझे ऐसी सेवायें न चाहिए । मैं तो यह चाहता हूँ कि मैं प्रतिदिन मील दो मील घूम आऊँ । देखिये कितने बड़े आराम के साधन जुटाये जाते हैं उस बीमार दशा में रईस रोगी के लिए खाने के लिए मना करता तो लोग उसे बहुत-बहुत मनायेंगे । अब आप देख लो कितना बड़ा आराम है बीमार बनने में? अब यदि हम आप से पूछें कि बताओ आप लोग ऐसा आराम चाहते हैं क्या? तो शायद आप यही कह उठेंगे कि मुझे न चाहिए ऐसा आराम । तो ऐसे ही दशा उस बीमार रईस की समझिये । वह उन सर्व आराम के साधनों को हेय मानता है । हेय मानता है, पर वह बड़े प्रेम से दर्वाई क्यों पीता है? वहतो हेय चीज है झूँझलाने का कारण है । उसे यह आस्था बनी है कि मेरी दवा छूटेगी इस दवा के खाने से । वह दवा

से छूटकारा पाने के लिए दवा पी रहा है, दवा पीते रहने के लिए दवा नहीं पी रहा है। इसका लक्षण देखिये—ज्ञानी सम्यग्वृष्टि को भी विषयों के प्रसंग आते हैं वह खाना खायगा तो स्वाद न आयगा क्या? आयगा तो फिर इसमें राग हुआ ना? राग तो हुआ फिर भी राग नहीं है। वह इन विषयों के प्रसंग से छूटने के लिए आ पड़े हुए विषयों की भोग रहा है।

किसी परिस्थिति में विषय परिहार के प्रयोजन से विषयप्रसंग—कोई साधु यदि यह हठ करले कि यह भोजन, आहार, यह भीतो विषयसेवन है क्योंकि विषय सेवन तो पांचों ही इन्द्रियों के व्यापार को कहते हैं। भोजन करना भी विषय सेवन है, फिर मैं क्यों भोजन करूँ? यदि ऐसी हठ करके वह आहार जल का त्याग कर दे तो उसका तो संक्लेश मरण हो जायगा सो वह दुर्गतियों में जायगा। सो संयम का साधन बनाये रखने के लिए वह साधु आहार लेता है। आहार संयम का साधन बन रहा था मुनि अवस्था में और हाथ पैर भी चल रहे थे, पर वह विवश होकर करना पड़ रहा था। ये खाने-पीने आदिक की चेष्टायें अज्ञान चेष्टायें हैं, तो ऐसा जबरदस्ती कोई विषयों का त्याग करके संक्लेश से मरे तो क्या ये विषय छूट जायेंगे? अरे अगले भव में ये फिर मिलेंगे, तो ज्ञानी जीव इन विषयों से छूटकारा पाने के लिए ही उन विषयों के प्रसंग में रहकर भी ऐसी साधना भीतर में बना रहा है जो कि उसके भीतर के विषयों को एकदम खत्म कर देगा। ज्ञानी का ऐसा लक्ष्य है कि सर्व संग प्रसंगों को वह ऐब मानता है।

ज्ञानी को उत्तमगुण ग्रहणरति—दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक कैसा हुआ करता है उसका वर्णन यहां चल रहा है। उसके सम्यक्त्व है निर्दोष। इस कारण उसकी ऐसी ही वृत्ति है कि जो उत्तम पुरुष है उनके गुण के ग्रहण करने में अनुराग रहता है। अज्ञानी जीव गुणियों को देखकर ईर्ष्या करते हैं, घृणा करते हैं, उल्टा-उल्टा देखते हैं, क्योंकि उनका सब उल्टा हो रहा है काम। मिथ्यात्व का उदय है तो उल्टा ही दिखेगा। जिसको सम्यक्त्व हुआ है वह सर्व जीवों को निरपराध स्वरूप में निरखेगा और निर्णय रखेगा कि हमसे जो अपराध बनता है वह हमारे आत्मा का अपराध नहीं है। यह कर्मोदय की झांकी है, माया है, ऐसा सब जीवों में अन्तः स्वरूप निरखने वाला पुरुष क्या उत्तम पुरुषों के गुणों में द्वेष रखेगा? अरे उसके तो उत्तम पुरुषों के गुणों के ग्रहण में अनुराग रहता है। ज्ञानी की यह पहिचान है। सम्यक्त्व जहाँ है वहां तो यह है ही पर मामूली रीति से थोड़ा यह समझना हो किं यह पुरुष ज्ञानी है या अज्ञानी। एक ही पहिचान कराया है यहाँ। यदि गुणवान पुरुषों का गुणों का वर्णन करने का अनुराग है? उनके गुणों का भक्ति है तो समझिये कि वह ज्ञानी है। यदि गुणियों से द्वेष रखता है, दोष निरखता है तो समझिये कि वह अज्ञानी है। गुण और दोष सब पुरुषों में मिलते हैं, अन्तर इतना रहता है कि जिसमें गुण अधिक हैं, दोष कम हैं वह कहलाता है गुणी, और गुण कम हैं, दोष अधिक हैं तो वह कहलाता है अज्ञानी। तो गुणीजनों के गुणों में भक्ति होना यह है सम्यक्त्व की पहिचान।

ज्ञानी का साधर्मियों में अनुराग—ज्ञानी पुरुष साधुसंत पुरुषों के विनय से युक्त रहता है जब साधुओं के गुणों में अनुराग रहा तो फिर वह उनकी विनय कैसे न करेगा? उसके मन, वचन, काय विनय के लिए आ ही जायेंगे। तो ज्ञानी इन चिह्नों से परखा जाता है कि साधुसंतों के विनय से युक्त हो और उनके गुणों के ग्रहण का प्रेमी

हो तो वह है सम्यगदृष्टि पुरुष । ज्ञानी पुरुषों को अपने साधर्मीजनों में अनुराग रहता है । जैसे घर के काम का एक लक्ष्य बना लिया, घर में व्यवस्था रखना और आजीविका चलाना और एक दूसरे के दुःख में शामिल होना एक लक्ष्य बना रखा है अपने घर के मेम्बरों में तो कैसा मिल जुलकर आप काम करते हैं । किसी ने कम काम किया तो भी आप संतोष रखते हैं कि काम ही तो कर रहा यह, थोड़ा कर पाया तो क्या हुआ? जितना बताया उतना कर पाया, कोई विशेष काम करता है, मगर घर के सब लोग मिल जुलकर एक सूत में बंधे हुए मानो इस तरह से घर की व्यवस्था बनाते हैं । तो यह धर्म भी तो धर्म का जितना क्षेत्र है, कार्य है वह भी तो एक घर की तरह है । घर में आप दो-दो, चार-चार, सात-सात आदमी हैं, उनका एक घर है । ऐसे-ऐसे कितने ही घर उसमें शामिल है तो वह हुआ अपनी साधुता का घर । उसमें क्यों नहीं संतोष किया जाता कि जो कोई भी पुरुष धर्म के कार्य में जितना सहयोग दे रहा है जो जिस लायक है वह प्रभु की बाणी के प्रसार में, प्रभु के ज्ञान के प्रसार में वह सहयोग दे ही रहा है । उनमें भी प्रेम रहना चाहिए ।

**ज्ञान की उपासना में धर्म का पालन—देखिये धर्मपालन के सिवाय ज्ञान के और दूसरी चीज का नाम नहीं है ।** कोई भी चेष्टा आप करें, मंदिर का और यहाँ वहाँ का धर्म के नाम पर, तो ज्ञान का लक्ष्य है और ज्ञान की भक्ति के लिए ही किया जा रहा है तो वह धर्म में शामिल होगा अन्यथा धर्म में नहीं शामिल होने का । क्योंकि आत्मा का स्वभाव ज्ञान है और स्वभाव का विकास ही परम पद है । तो ज्ञान और ज्ञानविकास इनसे सम्बंधित बात तो धर्म में आती है और केवल एक शौक में, शान में जिसे कहते हैं शौक लग गया किसी का किसी में, किसी का इस बात में शौक लग गया, मगर वह धर्म नहीं हुआ । धर्मपालन होगा जब ज्ञान का सम्बंध हो खुद के ज्ञान में, अन्य के ज्ञान में । ज्ञान की भक्ति में अगर आपका मन है तो यहाँ धर्म की बात चलेगी अन्यथा धर्म की बात न चलेगी । थोड़ा पुण्य हो गया सो ऐसा पुण्य तो अन्य कार्यों में भी हो सकता है, इसमें कुछ अधिक हो गया मगर संसार के संकटों से छूट जायें उसका प्रोग्राम न हो पाया । यह ज्ञानी जीव जानता है कि ये सब उस ज्ञान के अनुरागी हैं जिस ज्ञान की भक्ति करने से निकट काल में केवलज्ञान मिलेगा । उसके उपासक हैं तो उसमें अनुराग बनता है । तो साधर्मीजनों में अनुराग करना यह सम्यक्त्व होने वाली चेष्टा है ऐसा सम्यगदर्शन से युक्त जो भव्य आत्मा निरतिचार अष्ट मूल गुण पालन करता है उसको दार्शनिक श्रावक कहते हैं ।

**जीव को निज ज्ञान द्वारा देह से भिन्न निरखने की ज्ञानकला—दर्शन प्रतिमाधारी सम्यगदर्शन से सम्पन्न है, इस सम्बंध में वर्णन चल रहा है ।** जिस जीव को अपने सहज चैतन्यस्वभाव का ज्ञान द्वारा अनुभवहो जाता है उसे कहते हैं सम्यगदृष्टि । सम्यगदृष्टि का क्या चिन्तन रहता, निर्णय रहता, यह यहाँ बतलाया जा रहा है । यह ज्ञानी पुरुष देह से मिले हुए भी जीव को ज्ञान गुण के द्वारा भिन्न मानता है । जिस पदार्थकाजो परिणमन है वह परिणमन उसी पदार्थ में देखा जायतो ऐसी निरख से असाधारण स्वरूप का परिचय मिल जाता है और मित्रता भी ज्ञात हो जाती है । शरीर का परिणमन क्या है? रूप, रस, गंध, स्पर्श बदलना, कठोर होना, हल्का भारी होना, ये सब देह के परिणमन है किन्तु क्या ये परिणमन जीव के भी होते? जीव में काला, पीला, नीला आदिक

रंग होते हैं क्या? जिसमें रंग होते हैं वह जानने का काम कभी नहीं कर सकता। मैं जानता हूँ, मैं रंग रहित हूँ, मुझ में खट्टा, मीठा ऐसा रस पड़ा हुआ है क्या? यदि रस पड़ा होता तो यह जाननहार न रहता। इसमें सुगन्ध, दुर्गन्ध परिणमन भी नहीं है। कोमल, कठोर, रुखा, चिकना, ठंडा, गरम आदि ये कोई परिणमन नहीं है। मैं हूँ केवल जाननहार। जो पुरुष अपने आपको मना करता है कि मैं कुछ नहीं हूँ। जीव कुछ नहीं है तो वहाँ यह तो पूछो कि जीव कुछ नहीं है, ऐसा मना कर कौन रहा है? जो मना कर रहा है वह कुछ जानता हुआ मना कर रहा है या न जानता हुआ मना कर रहा है? न जानता हुआ कोई भी पदार्थ मना नहीं कर सकता। निषेध की कल्पना कर जो मना कर रहा हो वही तो जीव है। जैसे कोई पुरुष कहने लगे कि मेरे मुख में जीभ नहीं है मैं बिल्कुल ठीक कह रहा हूँ तो आप उसकी बात मान लेंगे क्या? अरे जिसके द्वारा यह कह रहा है कि मेरे मुख में जीभ नहीं है वही तो जीभ है, यदि मुख में जीभ न होती तो वह ऐसा कैसे कह लेता? ऐसे ही कोई पुरुष अपने को मना करे कि जीव नहीं है, तो जिसमें “नहीं है” की कल्पना आयी वह ही तो जीव है।

असाधारण निज चैतन्य स्वभाव की बेसुधी से कष्ट विडम्बना—जीव का परिणमन है जानन। जाननपरिणमन होने से जानने की शक्ति सुनिश्चित है। जानने की जो शक्ति है वही असाधारण गुण कहलाता है, जीव का असाधारण गुण है ज्ञान शक्ति चैतन्यस्वरूप और शरीर का असाधारण गुण है मूर्तिकता। मूर्तिक कहने से रूप, रस, गंध, स्पर्श सब आ जाते हैं। तो इतना भेद है मुझ में और देह में। ऐसाजो असाधारण स्वरूप पर दृष्टि रखकर भेद समझता है वह पुरुष ज्ञानी है। जितना जीवों को दुःख है वह अपने असाधारण स्वरूप में आत्मीयता का अनुभव न कर सकने से दुख है। वैसे दुःख निकला हो, पर से मुझ में प्रवेश कर गया हो ऐसा होता है क्या कहीं? पर-पर की जगह है वह अपने ढंग से परिणम रहा है। उसे से मुझ में कुछ नहीं आ रहा, फिर दुःख का कारण कोई बाहरी पदार्थ कैसे कहलायगा? दुःख यही है कि जो अपने असाधारण स्वरूप का ज्ञान न होने से बाह्य पदार्थों में यह उपयोग भटकता रहता है, कष्ट इसका है। जिन परमेष्ठियों की हम वंदना करते हैं उन्होंने यह ही तो किया था अपने स्वभाव में अपने आत्मत्व का अनुभव किया था। संकट उनके खत्म हो गये। यहाँ कैसा मोहविष चढ़ा है कि चित्त नहीं चाहता कि अपने को मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र अनुभव कर लूँ। जब तक यह मोह विष चढ़ा रहेगा, सर्व से निराले ज्ञानमात्र अंतस्तत्व का अनुभव न कर सकेगा तब तक शान्ति का मार्ग मिलना असम्भव है।

कांचली से सर्प के विविक्तत्व की तरह देह से जीव की विविक्तता—यह सम्यग्दृष्टि जीव देह में मिला हुआ भी जीव को देह से निराला अपने ज्ञान गुण के द्वारा समझ रहा है। ज्ञानस्वरूप निरखकर मान रहा है। यह ज्ञानी जानता है कि इस देह में यद्यपि जीव मिला है फिर भी यह देह कांचली की तरह है। जैसे सर्प पर कांचली चढ़ जाती है वह कांचली सर्प के अंग से ही बनी है, कोई बाहर के पदार्थ से नहीं बनी, पर उस कांचली के आवरण होने से वह सांप अंधा हो जाता है और उस कांचली को अन्त में छोड़ता है, क्योंकि देह

से कांचली ने मूल सम्बंध छोड़ दिया तो वह कांचली दूर हो जाती है, सर्प को दिखने लगेगा । तो जैसे सर्प निराला है, कांचली निराली है उससे भी अधिक असम्बन्ध देह और जीव का है । कांचली तो उस सांप के ऊपर का चाम ही बन गया था पर देह तो जीव का कुछ नहीं बनता । इससे भिन्न बाहर आहार वर्गणाओं के परमाणु हैं फिर भी जैसे कांचली निराली है, सांप निराला है ऐसे ही यह शरीररूपी कांचली निराली है और यह मैं जीव निराला हूँ । जैसे कांचली से सांप निकलता है तो उसका भला होता है ऐसे ही देह से यह जीव अलग हो जायगा तो उसका भला होगा, मोक्ष होगा । यह मैं इस देह से अत्यन्त पृथक हूँ ।

कार्यसिद्धि में आराध्य देव शास्त्र गुरु की आवश्यकता का चित्रण—यह ज्ञानी जीव चाह रहा है ज्ञान का शुद्ध विकास । तो जो जिस तत्त्व को चाहता है वह तत्त्व परिपूर्ण जिसे मिला है उसे तो आदर्श मानता है और उस तत्त्व के बताने वाले जो वचन हैं उसके ज्ञान से आगे बढ़ता है, और उस तत्त्व के पालनहार जो उसको संघ में मिलते हैं उन्हें अपना गुरु मानता है । प्रत्येक कार्य में देव, शास्त्र, गुरु की विधि बराबर बनी हुई है । चाहे रोटी बनाने का कार्य हो चाहे संगीत सीखने का कार्य हो या व्यापार करने का कार्य हो, उस-उस विषयक देव, शास्त्र, गुरु होते हैं । रोटी बनाने के कार्य में देव कौन है? जो बुआ, मौसी, आदिक बहुत बढ़िया रोटी बना लेती हैं वे उसके रोटी के देव हैं, शास्त्र कौन हैं? जो रोटी बनाने की बातें हैं—जैसे इस तरह आटा गूँथो, फिर उस पर पानी डालकर उसको फूलने दो । जब आटा इतना गूँथ जायकि उसे यदि उठाया जाय तो थाली भी साथ में उठ जाय, इतना उसमें लोच आ जाय, फिर उसकी लोई बनाकर उसको बेलने से पसारा जाय । बेलने के द्वारा गोलगोल रोटी ऐसी सरकती जाय कि उसे हाथ से न पसारना पड़े । इस तरह रोटी बनाओ फिर उसको गरम तवे पर डाल दो । पहले पर्त को जल्दी पलट दो, दूसरी पर्त को देर तक धरी रहने दो, और उसे आग पर धरकर तुरन्त अदल-बदल करते रहो, यदि वह रोटी कहीं फूट जायतो उसे चीमटे से पकड़कर दाब दो । यों रोटी बनाने की विधि चाहे किसी किताब में लिखी हो या कोई मुख से बता दे, वे शास्त्र रोटी के कहलाये और जो कोई पास पड़ोस का सिखाने वाला हो तो वह गुरु कहलाया तो देव, शास्त्र, गुरु बिना तो रोटी भी न बना पाये वे रोटी के देव, शास्त्र, गुरु हुए । जैसे संगीत सीखना है तो संगीत सीखने वाले की दृष्टि उस व्यक्ति पर होती है जो कोई बड़ा संगीतज्ञ हो, उसकी इच्छा होती कि मुझे तो ऐसा बनना है । इस प्रकार का भाव हो जाता है संगीत सीखने वाले के । वहतो हुआ संगीत का देव । और संगीत सिखाने के जो वचन हैं सा रे ग म प ध नी सा, सा नी ध प म ग रे । सा रे ग, रे ग म आदि, आदिक संगीत के जो सरगम बताये गए वे सब शास्त्र हुए और जब मोहल्ले में या पास पड़ोस में कोई सिखाने वाला मिल जाय तो वह उसका गुरु हुआ । तो देव, शास्त्र, गुरु का सहारा लिए बिना वह संगीत नहीं सीख सकता । वे तो संगीत के देव शास्त्र गुरु हैं ।

धर्मविकास के लिए आराध्य देव—यहां धर्म का विकास कोई देव, शास्त्र, गुरु का प्रसंग पाये बिना कर लेगा क्या? धर्म का देव कौन है? जहाँ धर्म पूर्ण विकसित हो गया, धर्म मायने आत्मा का स्वभाव, चैतन्य स्वरूप, सहज ज्ञान स्वभाव, उसका जहाँ विकास हो चुका ऐसा आत्मा । जिसको अरहंत कहो, सकल परमात्मा कहो,

निकल परमात्मा कहो, जिसके प्रति यह बुद्धि जगती है कि मुझे तो ऐसा बनना है, वे धर्म के देव हुए। धर्म के शास्त्र, जिन उपायों से धर्म विकास होगा उन उपायों की जो चर्चा है, जो शास्त्र में उल्लेख है वे सब शास्त्र कहलाते, जैसे ग्रन्थ पढ़ते हैं, उपदेश सुनते हैं, तो यह सब शास्त्र की उपासना कहलायी। कैसे अपने आपको पहिचानना, यह असाधारण गुण है, प्रत्येक पदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उसी में ही रहते हैं, किसी भी बात को समझाया गया, वे सब शास्त्र हुए। और गुरु कौन? जो अपने गांव में नगर में साधु मिले, त्यागी मिले, जिससे वीतरागता का पाठ मिले वह कहलाया गुरु। तो सम्यग्दृष्टि जीव कैसे देव, गुरु, धर्म को मानता है यह निर्णय उसके बराबर ठीक है। देव वह है जिसमें गुण पूर्ण प्रकट हों और दोष रंच न रहा हो। अब इस रूप में किसी भी सम्प्रदाय वाले को कहा कि भगवान वह कहलाता, ईश्वर या देव वह होता जिसमें आत्मा के गुण पूरे प्रकट हुए हों और दोष रंच भी न हो तो कोई मना करेगा क्या? नहीं। वहतो मान जायेगा। हाँ अब इस आधार पर समझियेगा। जो दूसरे की चिन्ता करे, जो साथ में स्त्री रखे, जिसके लड़के बच्चे हुए हो, ऐसा भगवान होता है क्या? भले ही गृहस्थावस्था में पहले सब कुछ था मगर भगवान की अवस्था में ये कोई दोष नहीं होते। तो जिनका चारित्र निर्दोष है, जिनके आत्मा में दोष न रहा और इसी कारण सर्वज्ञ है, समस्त गुण परिपूर्ण विकसित हुए हैं वह है देव, वह है हमारा आदर्श मुझे बनना है यह। देव की श्रद्धा सम्यग्दृष्टि जीव के यथार्थ रहती है।

धर्म विकास के लिए आश्रेय धर्म और गुरु—धर्म क्या है? जो दया से परिपूर्ण हो। अपनी दया भले प्रकार बन रही हो जिन उपायों से वे उपाय धर्म के उपाय कहलाते हैं। अपनी दया क्या है? अपने आपको अविकार स्वभावरूप में प्रतीति में लेकर इस स्वभाव के अनुकूल अपने ज्ञान की वृत्ति बनाना यह है अपनी दया। जिन्होंने अपनी दया की है उनके निमित्त से, सत्संग से अनेक जीवों की दया पल जाती है, यह उसके नीचे की दया पलती है वह सब आपेक्षिक है। उत्कृष्ट दया यह ही है कि अपने यथार्थ स्वरूप को मानकर विकारभाव का वमन कर दे और अपने की नीरोग अविकार अनुभव करे यह है अपनी वास्तविक दया। तो ऐसी दया से परिपूर्ण जो बताया है वह धर्मपालन कहलाता है। गुरु कौन होता है? जो समस्त परिग्रहों से रहित हो। परिग्रह का संग ही क्लेश का कारण होता है, ऐसा निर्णय रखने वाला यह श्रावक परिग्रह रहित आत्मसाधक आत्मा को गुरु मानता है। तो जो सम्यग्दृष्टि है वह यथार्थ देव, शास्त्र और गुरु की प्रतीति रखता है।

मिथ्यादृष्टियों की कुदेव कुधर्म कुगुरु में देवत्व धर्मत्व व गुरुत्व की श्रद्धा—जो इसके विरुद्ध आत्माओं में, उपायों में, देव, शास्त्र और गुरु की श्रद्धा रखते हैं वे खोटी दृष्टि वाले हैं। जो दोष सहित को देव मानते वे कुदृष्टि वाले हैं। यदि कोई भक्त भगवान से यह आशा रखता है कि ये भगवान मेरा काम सम्हाल देंगे, मेरा मुकदमा जीता देंगे, मुझे धनिक बना देंगे, इस प्रकार की जो आस्था रखते हो वे खोटी दृष्टि वाले हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, उन्होंने भगवान को कुदेव बना डाला। कहीं वे भगवान कुदेव नहीं बन जाते, वे तो जो हैं सो ही हैं। किन्तु इसने अपनी दृष्टि में यह मान्यता जो कर ली है। कि ये महावीर भगवान मेरे को धन सम्पन्न कर देंगे। उसने भगवान का स्वरूप नहीं जाना और कुदेव के रूप में उसने जिनेन्द्र देव की मूर्ति को जाना। वहतो खोटी दृष्टि

वाला है। जो खोटे रूप वाले को देव मानता है, फिर जिसके विषय में यह धारणा बनी है कि यह भगवान हैं, यह इनकी भगवती हैं, ये इनके पुत्र हैं और इनकी जो भक्ति करता उनको ये भगवान सुख देते और जो भक्ति नहीं करता उनको दुःख देते, ये नरक स्वर्ग में भेजते। ये अपने ठाठ से घर में रहते, ऐसे रूप में जो किसी को देव माने, शास्त्र से सञ्चित अनेक विचित्र वेषभूषाओं में जो देव को मानता है वह कुदृष्टि है। क्योंकि उससे फायदा क्या मिला? आत्मा को समस्त संकटों से बंधनों से छूटकर निर्वाण पाना है, यही कल्याण है। इस निर्वाण की शिक्षा ऐसे दोष सहित आत्मा से क्या मिल सकेगी? वे खुद संसार सागर में अटपट गिर रहे हैं। उनके तिरने की क्या आशा करना? जो जीव हिंसा में धर्म मानता है बलि प्रथा यज्ञों में जीव होमना या देवी मानकर पशुपक्षियों के गले काटना आदिक करते हुए भी जो धर्म मानते हैं उनका बड़ा कूर हृदय है, मिथ्या आशय है। वे विशेष पाप का बंध करते हैं। धर्म के नाम पर हिंसा करना, इसमें बहुत विकट पापबंध होता है। पहले तो हिंसा में ही पाप है, फिर उसको धर्म मानकर करोंतो वह महापाप है। धर्म कैसे हो सकता? इसी प्रकार जो परिग्रह में आसक्त है वे गुरु नहीं हो सकते। कितने ही संन्यासी बाना धारी लोग बड़ा आरम्भ करते हैं उनके बाग बगीचे हैं और खेती में दिलचस्पी है, फूल फुलवाड़ी आदिक का खुद प्रक्रम करते हैं और केवल भेषभूषा रखकर अपने को संन्यासी गुरु प्रसिद्ध करते हैं, तो वे जो करेंगे वह उनका आशय है मगर ऐसे जीवों को जो गुरु मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा के स्वभाव को जान चुका, इस कारण स्वभाव के ही नाते से देव, शास्त्र, गुरु का निर्णय उसके बना है और मोही सम्यग्दृष्टि जीव ने अपना आत्मस्वरूप नहीं समझा तो वह बाह्य बातों में देव, शास्त्र, गुरु की कल्पना करता है।

**सम्यग्दृष्टि का दृढ़ निर्णय—**सम्यग्दृष्टि जीव भले प्रकार निर्णय किए हुए है कि इस जीव की परिणति इस जीव के परिणमन से होती है। निमित्तनैमित्तिक बन्धन भी चल रहा है। जीव जैसे शुभ अशुभ भाव करता है उसके अनुरूप शुभ अशुभ कर्मों का बन्ध होता है, उन बद्ध कर्मों का जब विपाक खिलता है तो उसका निमित्त पाकर जीव में सुख दुःख होता है। इस जीव के सुख-दुःख का देने वाला कोई दूसरा जीव नहीं है, इस ही जीव के वेदनीय कर्म के उदय के अनुकूल साता और असाता की सामग्रियां मिलती हैं, धन वैभव सम्पदा को कोई दूसरा नहीं दे सकता। कोई अन्य जीव इस जीव का न उपकार रूप परिणमन कर सकता, न अपकार कर सकता। अपने ही कमाये हुए शुभ अशुभ कर्म के अनुसार अपनी दशा बीतती है, ऐसा निर्णय रखकर यह जीव किसी दूसरे जीव से अपने सुख की आशा नहीं रखता। वह अपने स्वभावदृष्टि से ही अपने में आनन्द पाता है। अन्य देव, कुदेव, कितनी भी भक्ति से पूजे जायें व व्यन्तर आदिक देव पूजे जाये, यदि वे लक्ष्मी सम्पदा आदिक को देते हैं तो एक तो साक्षात् कोई देते नहीं मान लो निमित्त बन जाये जैसे मनुष्यों की मनुष्य धन देते हैं यो व्यन्तर देव भी कहीं से लाकर दे दें, पर खुद के पुण्य का उदय हो, खुद को धर्म साधन किया हो तो ऐसा योग जुड़ जाता है। तो मूल बात तो अपनी पुण्यबन्ध हेतु भूत धर्मसाधना है। यदि यह धर्मसाधना और पुण्य अपनी गांठ में है तो अनेक लोग बाह्य कारण बन जायेंगे इस जीव के लौकिक सुख के लिए। यदि पाप का उदय है तो कुटुम्बीजन भी इसके शत्रु बन जायेंगे। अनेक घरों में देखते ही हैं कि परस्पर में लोग

एक दूसरे को दुःखी करते रहते हैं, तो वह उनके पाप का उदय है। तो अपने किए हुए शुभ अशुभ कर्म के अनुसार ही अपने पर बात बीतती है। ऐसा जानता है ज्ञानी, इस कारण किसी दूसरे से कुछ मुझे मिलता है, वह कुछ देता है इस आशा के त्यागने से वह अपने में प्रसन्नता का अनुभव करता है। ऐसे सम्यग्दर्शन से युक्त ज्ञानी जब निरतिचार मूल गुण का पालन करता है तो उसे कहते हैं प्रथम प्रतिमाधारी श्रावक।

**भविष्य की विधेयता व ज्ञेयता—सम्यग्दृष्टि** जीव को आत्मस्वरूप के बारे में स्पष्ट निर्णय है—‘यह हूँ मैं अमूर्त ज्ञानमात्र’, जिसका स्वभाव है कि जगत में जितने भी त्रैकालिक वस्तु हैं उन सबको स्पष्ट झल का लेना और जब सब पदार्थ स्पष्ट झलक गए तब यह कहा जा सकता है कि जो बात जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से होना जिनेन्द्र देव ने किया है वह सब बात उस देश में, उस काल में, उस विधान से ही होगी। उसका निवारण लिए न इन्द्र समर्थ है, न कोई समर्थ है। यहाँ यह बात मुख्यता से जानना कि जो बात जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जिस योग में होनी होती है उसे प्रभु ने जाना है, प्रभु के ज्ञान के विषयभूत हैं समस्त पदार्थ, इस कारण से ज्ञान के होने में विषय रूप से कारण हैं ये पदार्थ और कार्य है ज्ञान। यद्यपि प्रत्येक वस्तु में स्वतंत्र अस्तित्व है और स्वतंत्रता से खुद का ही खुद में परिणमन होता है फिर भी विषय-विषयी के रूप से देखा जायतो विषयरूप से कारण है समस्त सत् और विषयीरूप से कार्य है प्रभु का ज्ञान। तब यह कहना होगा कि जिस विधान से जो कुछ होता है वही भगवान ने जाना है, अन्य प्रकार नहीं जाना। अब इसे कोई गौण करके और इसकी मुख्यता दे जो भगवान ने जाना है वही होगा, अन्य कुछ न होगा। (यद्यपि ज्ञसि की ओर से ऐसा निर्णय पूर्वक कहा जायगा), तो कारण कार्य के रूप से यह बात रंच भी नहीं कही जा सकती कि भगवान का ज्ञान कारण है और पदार्थों का इस प्रकार परिणमन होना कार्य है। यद्यपि बात ऐसी है कि भगवान ने जाना सब और अब कह सकते कि जो जाना सो ही होगा किन्तु इसको ज्ञसि रूप से ही कहा जायगा, उत्पत्ति रूप से न कहा जायगा। उत्पत्ति रूप से तो यह कहा जायगा कि जैसा जिस विधान से जो कुछ होना है होता है और उसे भगवान ने जाना है, विषय किया है। पदार्थ सब स्वतंत्र है, न पदार्थ के परिणमन ने प्रभु का ज्ञान बनाया, न प्रभु के ज्ञान ने पदार्थ का परिणमन बनाया फिर भी विषय विषयीरूप कारण कार्य की दृष्टि से कहा जायगा, यों कि जो होगा वही भगवान ने जाना अन्य कुछ नहीं जाना। ज्ञसि की ओर से कहा जायगा कि जो प्रभु ने जाना सो ही होगा। इन दो प्रकार के विवेचनों में निमित्त नैमित्तिक भाव और वस्तु स्वातंत्र्य दोनों का एक साथ होना अविरुद्ध है यह बात जानना चाहिए।

**द्रव्य और समस्त पर्यायों को सम्यग्दृष्टि के यथार्थ निश्चय—सम्यग्दृष्टि** जीव कैसी श्रद्धा रखता है, कैसा निर्णय रखता है जिसे के कारण वह निराकुल है और दर्शन प्रतिमा धारण करने का पात्र है। जो पुरुष यथार्थ तत्त्व को जानता है प्रत्येक द्रव्य अखंड सत् पदार्थ हैं और चूँकि वे द्रव्य हैं इस कारण निरन्तर परिणमन करते रहते हैं। वस्तु अखण्ड है, एक है, प्रत्येक एक है और उसका परिणमन जो भी है वह भी अखण्ड है। अखण्ड परिणमन को हम किस रूप से किन शब्दों में लोगों को बतावें या कोई गुरुजन हमें बताये। कैसे बता सकते हैं? तो अखण्ड परिणमन को समझाने के लिए उसके शक्ति भेद करके, गुणभेद कर के इन गुणों की ये पर्यायें

हैं, इस प्रकार समझाया जाता है। प्रत्येक पदार्थ अखण्ड है, उसका परिणमन प्रति समय अखण्ड है। यह तो वस्तु स्वातंत्र्य है और जितना विभाव परिणमन है जीव और पुद्गल का वह उपाधि का सन्निधान पाकर होता है यह है निमित्त नैमित्तिक भाव। सो उसके जो सुख होता, दुःख होता, शुभ अशुभभाव होते उनका निमित्त कारण कर्मदशा है। ये बाहरी पदार्थ ये मेरे परिणमन के कारण नहीं हैं, विभाव भी कर्मोदय का निमित्त पाकर होने वाले भाव है। यदि उपयोग बाह्य पदार्थों का आश्रय करे तो विकार व्यक्त हो जाता है, इस कारण किसी भी बाह्य पदार्थ से मेरे को कष्ट नहीं है। किसी भी जीव के किसी प्रकार के व्यवहार से मेरे को कष्ट नहीं है। कोई कैसा ही व्यवहार करे, आप पर का ममत्व छोड़ दो, कष्ट का रंच अनुभव न होगा। जो कष्ट हो रहा है, वह ममता का कष्ट हो रहा है न कि दूसरे जीवों की क्रियाओं का कष्ट हो रहा है। जो इस प्रकार से तत्त्व को जानता है वह है सम्यग्दृष्टि और जो इसमें शंका रखता है वह है मिथ्यादृष्टि।

विशेष तत्त्वज्ञान के अभाव में भी सहजात्मस्वरूप की, आस्था से सम्यक्त्व का अधिकार—कोई पुरुष ऐसे भी होते हैं कि जो तत्त्व को ऐसी गहराई से नहीं जानते, सिर्फ इतना समझते हैं कि प्रभु अरहंत देव सर्वज्ञ हैं और निर्दोष हैं, इस आधार पर यह निर्णय रखते हैं भव्यजन कि प्रभु ने जो कहा है सो यथार्थ है। क्या कहा है, कैसा कहा है, उसकी सिद्धि की क्या युक्ति है, इन बातों में नहीं पड़ता है कोई, तो इतनी ही श्रद्धा से कि जो कुछ प्रभु ने कहा उस सबका मैं आदर करता हूँ, और उसके प्रति सही है यह ऐसा निर्णय रखता हूँ, ऐसा भाव, ऐसा आदर बनाने वाला पुरुष भी सम्यग्दृष्टि हो सकता है। यह तो मनुष्यों की बात है। पशुपक्षी मेंढक मछली ये कहां ७ तत्वों के नाम जानते और कहां अरहंत जिनेन्द्र का नाम जानते? पर भीतर में प्रकाश सब है। अपने स्वरूप को निहारकर, ऐसा कहीं व्यक्त परिणमन है कि यही मैं हूँ और इस स्वरूप की दृष्टि किये जावो—यह ही मोक्ष मार्ग में बढ़ने का उपाय है। इस तथ्य को वे जानते हैं, पर वे इन शब्दों से भी नहीं जानते। जैसे कोई पुरुष एक नई चीज देखे, तो दिख तो पूरी जायगी और उसका वे नाम तक भी नहीं जानते। ऐसे ही इन पशुपक्षियों को दिख तो पूरा जायगा, जो प्रयोजन भूत तथ्य है वह ज्ञान में तो पूर्ण आ गया मगर उसका नाम जानना या व्यवहार करना, दूसरों को समझाना, यह कुछ नहीं है, पर मनुष्य तो उनसे भी बढ़कर हैं। वे इतना समझते हैं, कि प्रभु निर्दोष है, वीतराग हैं, और उन्होंने जो कहा है वह सब सही है मैं उसका आदर करता हूँ, ऐसी आस्था वाला भी सम्यग्दृष्टि जीव है।

सम्यक्त्व की महारत्नरूपता—जिस सम्यग्दर्शन से युक्त होकर यह भव्य जीव अणुव्रत का पात्र होता है वह सम्यक्त्व रत्न रत्नों में महारत्न है। रत्न नाम पत्थर का नहीं है, जैसे कि सफेद पीले-नीले लाल मणियों का रत्न का व्यवहार करते हैं। रत्न का अर्थ है जो जिस जाति में श्रेष्ठ है वह उस जाति में रत्न है, जैसे कोई किसी को पदवी देता है कि यह जैनरत्न है तो उसका अर्थ यह नहीं है कि वह जैन पत्थर है, किन्तु उसका अर्थ है कि जैन समाज में यह श्रेष्ठ है। ऐसी कितनी ही घटनायें हैं कि जिन शब्दों का सही अर्थ न जानने से उपमा रूप में अर्थ समझ लेते हैं। कुछ लोग जैन रत्न का क्या अर्थ समझते हैं कि ये रत्न की तरह ऊंचे जन हैं, पर इस तरह लगाने की भी जरूरत नहीं। लौकिकजनों की दृष्टि में नहीं है रत्न का सही अर्थ। सीधा

अर्थ है जैनों में श्रेष्ठ । जैसे एक सिंहासन शब्द है, लोग प्रायः कहते हैं कि सिंहासन बनवावो और उसके चार पाये शेर की तरह बनवा दो तो शेर कहलायगा और तख्त, चौकी की भाँति सीधे पाये बना दिया तो कहते हैं कि यह क्या बना दिया यह अपना सिंहासन ? शब्द में सिंह का अर्थ सिंह नहीं है किन्तु सिंह का अर्थ है श्रेष्ठ । सिंहासन का अर्थ है श्रेष्ठ आसन । आप कैसे ही आकार में बनावें शेर का पञ्जा बनाने की जरूरत नहीं है । शोभित होना चाहिए वही कहलाता है सिंहासन, ऐसे ही रत्न मायने श्रेष्ठ । समस्त रत्नों में महारत्न है सम्यगदर्शन ।

योगों में उत्तम योग ऋद्धियों में उत्तम ऋद्धि सिद्धियों में उत्तमसिद्धि सम्यगदर्शन—यह सम्यगदर्शन समस्त योगों में उत्तम योग है । जितने पौरुष है, प्रयत्न हैं उन सबमें सर्वोपरि प्रयत्न है तो वह है सम्यगदर्शन । जगत की जितनी भी ऋद्धियां हैं, ऋद्धि, सिद्धि, समृद्धि, सुख साता, यश को जो बढ़ाने वाली ऋद्धियां हैं उन ऋद्धियों में महाऋद्धि है सम्यगदर्शन । लोग चमत्कार पर अधिक जाते हैं । किसी का कुछ चमत्कार सुना, हो भी चमत्कार अथवा न भी हो, अनेक चमत्कार तो माया से भी होते । जैसे इस तरह का कुर्ता बना लेना कि उसमें बारीक राख धर लेना और फिर हाथ छिड़कना उसमें राख निकलेगी तो लोग कहेंगे कि यह बाबा बहुत ऊचे हैं, इनके हाथ से भूत निकलती है, ऐसा चमत्कार । लोग चमत्कार पर आकर्षित होते हैं मगर सबसे ऊचा चमत्कार है सम्यगदर्शन, जिसके होने पर तुरन्त भी आकुलता नहीं रहती और उसके प्रसाद से यह जीव सर्वसंकटों से मुक्त हो जाता है । सम्यगदर्शन से बढ़कर कोई चमत्कार हो सकता है क्या? ऊपर चमकीले चमत्कार पर रंच भी आकर्षित न होना, किन्तु जब दृष्टि अपने आपके सहज स्वरूप में लगी तो वह है ऐसा अद्भुत चमत्कार जिसके प्रसाद से ६४ प्रकार की ऋद्धियां उत्पन्न हो जाती हैं । तपश्चरण भी थोड़ा चाहिए पर उस कोरे तपश्चरण से ऋद्धियां पैदा नहीं होतीं । सम्यगदर्शन सहित तपश्चरण हो, वह ऋद्धियों को उत्पन्न करता है तो समस्त ऋद्धियों में महान् ऋद्धि है सम्यगदर्शन और जितनी भी सिद्धियां हैं उन सबको करने वाला है सम्यगदर्शन । ऐसे सम्यगदर्शन से सम्पन्न भव्य जीव दर्शन प्रतिमा का अधिकारी होता है ।

सम्यगदृष्टि की देवेन्द्र नरेन्द्रवंदितता—सम्यक्त्व चमत्कार जहाँ प्रकट हुआ है वह देवेन्द्र, नरेन्द्र, मुनीन्द्र आदिक के द्वारा आदरणीय है । सम्यक्त्व के साथ चारित्र है तो मुनीन्द्रों के द्वारा भी वंदनीक है । सम्यक्त्व के साथ चारित्र हो अथवा न हो तो भी वह देवेन्द्र नरेन्द्रों के द्वारा आदरणीय है । सम्यक्त्व की ऐसी महिमा है कि ब्रत नहीं भी है और सम्यगदर्शन है तो उस सम्यक्त्व के प्रताप से वह स्वर्ग के उत्तम सुखों को प्राप्त कर ही लेता है ।

(१, २) सम्यगदृष्टि की निःशंकितता व निःकांक्षितता—सम्यक्त्व के ८ अंग होते हैं वे ८ अंग आभ्यंतर में तो निश्चयरूप से बर्तते हैं और बाह्य में ये बहिरंग रूप से बर्तते हैं । अपने आत्मा के सहज स्वरूप में शंका न होना, और शंका नहीं है इसी कारण से सप्तभय न होना यह आभ्यंतर समृद्धि है । इस समृद्धि के प्रताप से जिन भव्य आत्माओं ने परमात्मपद पाया है उनसे जो उपदेश प्राप्त होता है वह निःसंदेह उत्तम है, निर्दोष है, यथार्थ है, इस प्रकार की आस्था होना यह निःशंकित अंग है । सम्यगदृष्टि जीव अन्य बातों को रंच भी नहीं

चाहता है मूल में। यो तो सम्यगदृष्टि पुरुष को भूख लग जायतो रोटी खाना तो चाहता है, चाह हुए बिना रसोईघर में कैसे पहुंचेगा? पर यह परिस्थितिवश चाह है, मौलिक चाह नहीं है। मौलिक अभिलाषा तो सम्यगदृष्टि की यह है कि मैं सहज ज्ञानस्वरूप में उपयुक्त हो जाऊं, मग्न हो जाऊं, यह ही मूल में श्रद्धा है और यह भावना निरन्तर है। परिस्थितिवश जो चाह होती है वह चाह निरन्तर नहीं रहती। भूख लगी, खा लिया, पेट भर गया, उसके बाद भी क्या वह भोजन चाहता है? पर आत्मस्वरूप में मग्न होने की उसके २४ घंटे भावना रहती है, इस कारण कहा जाता है कि सम्यगदृष्टि जीव निःकांक्षित है। तो यहाँ भी परिस्थितिवश भोजन चाहेगा, दुकान करना चाहेगा, आमदनी चाहेगा, लेकिन धर्मधारण कर धर्म के एवज में कभी कुछ न चाहेगा। परिस्थितिवश इच्छा हो गई मगर धर्मपालन के एवज में कभी लौकिक सुख की भावना न जगेगी। जैसे मैं अमुक तीर्थ की वंदना करूं और मेरे को ऐसा लाभ हो, यह सम्यगदृष्टि की भावना कभी नहीं हो सकती। दुःख चाहे कितना ही आ जाय वहतो समता से दुःख सहने का पौरुष करेगा। मैं अमुक तीर्थ पर वंदना कर आऊं तो मेरा अमुक दुःख टल जाय, यह भावना सम्यगदृष्टि के कभी नहीं रहती। वह निःकांक्षित है।

(३, ४) ज्ञानी पुरुष की निर्विचिकित्सतता व अमूढदृष्टिता—ज्ञानी पुरुष अपने पर आ पड़े हुए दुःख में अपने को ग्लान नहीं बनाता। क्या करूं बड़ी कठिन घटना आयी है, पता नहीं अब क्या होगा, ऐसी दुःखों में ग्लानता सम्यगदृष्टि जीव के नहीं होती। कहते हैं ना क्यों ग्लान मन हो गया? दुःख को सहन करने की ज्ञानी जीव में अद्भुत शक्ति है। सो ऐसी शक्ति का अंदाज करके लौकिकजन तो आश्चर्य करते हैं, पर वहाँ आश्चर्य की कुछ बात नहीं, क्योंकि जिसने अविकार आत्मस्वभाव का परिचय किया है उसको ऐसा सहन कर लेना बिल्कुल आसान बात है। कोई मुझ आत्मा को पीट तो नहीं रहा। इस अमूर्त आत्मा में किसी पर का प्रवेश ही नहीं है, कष्ट की क्या बात है? हां ज्ञानी पुरुष यदि रोये, दुःख माने, तड़फे, विहँल हो तो यह आश्चर्य की बात है, पर ज्ञानी समता से रहे, सुख दुःख में समान बुद्धि रहे और अपने अभिमुख रहे तो यह कठिन काम नहीं है, यह आसान काम है। किन्तु इस आसान कामों को भी लौकिक पुरुष जब न कर स के तो उन्हें आश्चर्य दिख रहा। भगवान हो जाना, निर्दोष सर्वज्ञ हो जाना यह आसान काम है, और दुःख मानना पर पदार्थों का संग्रह करना यह बड़ा मुश्किल है। सकल परमात्मा हो जाना यह आसान इस कारण है कि इसमें किसी दूसरे से मिन्नत करने की जरूरत नहीं रहती। खुद हैं, खुद ने खुद को जान लिया और यह खुद-खुद हीं के पास उपयोग द्वारा रह रहा है, ऐसे काम में क्या कठिनाई आनी चाहिए? कठिनाई तो इस काम में है जो दुकान चलाते हैं, आमदनी होती है, कुटुम्ब का पोषण करते हैं, कुटुम्ब से रुचि रखते हैं। यह काम बड़ा कठिन हैं, क्योंकि इसमें पराधीनता बहुत है, यह खुद के अधिकार की बात तो नहीं है। ये सब काम कठिन हैं पर खुद-खुद में रम जाय, यह काम बहुत आसान है, पर कोई कठिन को तो आसान मानता तो उसके लिए यह आत्मा का आसान काम कठिन हो जाता, असम्भव हो जाता। सम्यकत्व गुण का ऐसा प्रसाद है कि यह स्वयं को स्वाधीन काम है, यह सब उसके लिए स्पष्ट और आसान काम हो जाता है। तो आम्यंतर में यह ज्ञानी जीव अपने दुःख आदिक परिणतियों में रंच भी ग्लानि नहीं रखता मायने क्रोध नहीं करता और बाह्य में जो रत्नत्रयधारी

साधुजन है उनकी सेवा में रहता हुआ रंच भी अशुचित शरीर को देखकर या उनके मलमूत्र निकलता हुआ रुग्ण है, उससे भी ग्लानि नहीं करता। एक मां को बच्चे से ममता होती है तो बच्चे की टट्टी उठाने में, नाक पोछने में मां कभी ग्लानि तो नहीं करती, क्योंकि उसका कारण है प्रेम, ममता। परन्तु मां की ममता शुद्ध ममता नहीं है। वह विकार अज्ञान मोह, आशा के बल पर ममता है। उससे मेरा कुल चलेगा, यह बुढ़ापे में मेरी सेवा करेगा, ऐसी कितनी ही आशायें लगी होती हैं, उससे मिलकर ममता बनती है। किन्तु धर्मात्मा पुरुषों को धर्मात्मा के प्रति शुद्ध वात्सल्य है। तो ऐसे मौलिक प्रयोजन से अनुराग करने वाले धर्मात्माजनों की सेवा करने में रंच भी ग्लानि नहीं आती है। इष्टि उसकी रत्नत्रय गुणों पर है। ये सम्यग्दृष्टि के पूर्ण विकास की बातें बतलायी जा रही हैं। जिसे आत्मप्रकाश मिला उसके कारण यह लौकिक चमत्कारी में मुग्ध नहीं होता। कोई ढोंगी पुरुष अपने को देव जैसे ढाँचे में प्रकाशित करे पर ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष उसमें मुग्ध नहीं होता। वहतो वीतराग सर्वज्ञ को देव मानेगा, और ऐसे ही उपायों को वह शास्त्र मानेगा। तो ऐसा अद्भुत विकास से युक्त पुरुष दर्शन प्रतिमा का पात्र है।

(५) सम्यग्दृष्टि का उपवृंहण सम्बन्धित प्रयोग—मोक्ष पुरुषार्थ का पुरुषार्थी जो अभी पहली प्रतिमा को धारण कर रहा है उसका आशय कैसा होता है इसका निरूपण यहाँ चल रहा है, वह होता है सम्यग्दर्शन सम्पत्र। और इस सम्यक्त्व की विशेषता के कारण उसमें गुणों का विकास होता है जिसमें सम्यक्त्व के कुछ अंगों का वर्णन किया। सम्यग्दृष्टि में उपवृंहण की भी प्रकृति होती है। उत्तम, क्षमा, मार्दव, सरल रहना, तृष्णा न रहना, अपने इन्द्रिय का संयम रखना, सत्य व्यवहार करना, लौकिक आकांक्षायें न होना, दान में बुद्धि रहना, त्याग की प्रकृति रहना, अपने स्वरूप को मैं सबसे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र हूँ इस प्रकार निरखना और अपने ही स्वरूप में मग्न होने का पौरुष होना यह सब गुण और इसका यथाशक्ति प्रयोग सम्यग्दृष्टि पुरुष में होने लगता है और इसी से ही अपने आत्मा के धर्म की वृद्धि होती है और इसी प्रयोग को निरखकर दूसरे जन भी अपने धर्म में सावधान होते हैं। साथ ही अपने किसी साधर्मी पुरुष में कोई कदाचित् अज्ञान से, आसक्ति से दोष हो जायतो उस दोष को वे यत्रतत्र प्रकट नहीं करते, क्योंकि उसमें धर्म तीर्थ की ओर से लोगों की श्रद्धा हट सकती है, ऐसी स्वभावतः परिणति होती है सम्यग्दृष्टि जीव की।

(६, ७, ८) सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण, वात्सल्य व प्रभावना से सम्बन्धित प्रयोग—कभी यह ज्ञानी क्रोध, मान, माया, लोभ के वश होकर उस धर्म से खुद गिरे तो थोड़ी देर में अपने को सम्बोधन करके अपनी सम्हाल कर लेता है और दूसरे लोग धर्म से च्युत हो तो उन्हें भी इस तरह प्रतिबोधता है कि वह भी धर्म में शामिल हो जाय। ज्ञानी जीव को अपने साधर्मीजनों से विशिष्ट अनुराग रहता है। उसके लिए कुटुम्बीजनों का इतना महत्त्व नहीं है पर अपने साधर्मीजनों का उसके दिल में बहुत महत्त्व है। जिसने संसार संकटों से छूटकर मोक्षपथ में अपने को लगाया है उसका प्रिय क्या होगा? तो मोक्षमार्ग में चलने वाले लोग प्रिय होंगे, दूसरा कोई प्रिय नहीं हो सकता। और इसी कारण साधर्मीजनों में उनका अपूर्व वात्सल्य रहता है। जैन शासन में सदैव अनुराग रहता है। जगत में सार एक ज्ञानविकास के अन्य कुछ नहीं है। जैसे गौ बछड़े से प्रीति रखती

है उसी प्रकार निष्कपट अकृत्रिम स्त्रेह रहता है साधर्मीजनों में। धन्य है वह स्वच्छता, परिणामों की निर्मलता कि जिसके होने पर राग का काम करें तो ऐसा साधर्मी जनों में अनुराग का काम करता है। सम्यगदृष्टि जीव के सम्यगदर्शन, सम्यगज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तय की वृत्ति से जैन शासन की प्रभावना होती रहती है। और अपने आत्मा में गुणों का विकास होता रहता है।

**वास्तविक धर्मप्रभावना**—ज्ञान का प्रसार करके जैन शासन का उद्योत करना यह है वास्तविक प्रभावना। लोग जैन धर्म की प्रभावना के लिए बहुत आडम्बर करते हैं। समारोह, रथयात्रा या अनेक बड़े-बड़े मंदिर बनाते, सब कुछ करते हैं लेकिन ज्ञान सार की कोई योजना न हो और ज्ञानप्रसार का कोई भी कार्यक्रम न हो तो वह सब प्रभावना में नहीं माना गया। इस बात को समंतभद्राचार्य ने प्रभावना अंग का स्वरूप बताते हुए बहुत स्पष्ट किया है। “अज्ञानतिमिरख्यासिमपाकृत्य यथायथं, जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात् प्रभावना” अज्ञानरूपी अंधकार को दूर कर के फिर अपनी शक्तिमाफिक जैन शासन के माहात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना है। किसलिए बड़े जलसा धार्मिक समारोह चलना चाहिए? इसलिए चलना चाहिए कि धर्म की व्याख्या एकत्रित जनता को बतायी जाय और जनता को सम्यक्त्व का मार्ग मिले। यह बात अगर बनती है इसकी योजना है कार्यक्रम में तो वह प्रभावना का रूप रखता है, अन्यथा प्रभावना के बजाय विडम्बना और विपत्तियां होती हैं। लोग यह जानने लगते हैं कि इस शासन के मानने वाले बहुत बड़े धनाइय होते हैं। चांदी सोने का बड़ा सामान निकाला, लोगों ने देखा तो लोग फिर ईर्ष्या करने लगते हैं, विरोधी बन जाते हैं ऐसी घटनायें अनेक जगह हुई हैं और उपद्रव किया गया है। यदि साथ ही जैन शासन के सिद्धान्तों को बताया जाता आम पब्लिक को, लोग इसके निष्पाप और महत्वशाली विवेचन की सुनते तो जनता कह उठती कि धन्य है यह जैनशासन। इस जैनशासन के पालन बिना हमारा गुजारा नहीं हो सकता, शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती, यह बात जनता के चित्त में बैठ जाय तो वह प्रभावना होती और उसका सहयोग मिलता, इस कारण मूल बात है जैन शासन की प्रभावना में कि जैन तत्त्वज्ञान का प्रसार करना, इस प्रकार की वृत्ति ज्ञानी पुरुष की होती है।

**सम्यगदृष्टि** पुरुष का संवेग निर्वेद निन्दागर्हा उपशम भक्ति अनुकंपा से सम्बन्धित प्रयोग—ज्ञानी पुरुष में स्वभावतः धर्म में अनुराग होता है इसी कारण संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य होता है। वह सतत् अपनी निन्दा करता है। जैसे जो धन का चाहने वाला पुरुष है, जिसके धन में तृष्णा लगी है वह कितना ही लखपति हो जाय फिर भी वह अपनी कमी को देखता है। अभी तो बहुत कमी है, गुजारा भी मुश्किल है। इस तरह का अनुभव करता है धन की तृष्णा वाला और जो धन जुड़ा है उस पर दृष्टि नहीं जाती कि यह अनुभव कर सके कि मेरे पास तो बहुत धन है। ऐसे ही जिसको धर्म की तृष्णा लगती है उसमें कितना ही गुणविकास हो जाय, वह अपने गुण विकास की दृष्टि नहीं रखता, मेरे में इतना हो गया महत्व, इतना विकास हो गया, बल्कि जो त्रुटियां हैं, जितनी कमी हैं याने कषाय जगती है उस पर उसकी निगाह होती है और वह अपनी निन्दा करता रहता है, और इतना ही नहीं, गुरु के समक्ष भी अपनी निन्दा करता है। सम्यगदृष्टि के क्षमा परिणाम रहता है। कोई तत्काल अपराध करे तो उसको क्षमा रखता है। पहले अपराध किया हो तो क्षमा रखता है और आगे

भी क्षमाशील रहता है। जिसने वस्तु स्वरूप का ज्ञान किया उसमें यह विवेक रहता है कि यदि दूसरे पुरुष ने गाली दे दी या निन्दा कर दी तो क्या हुआ? वे भाषा वर्गणा के बचन थे। उसके उस प्रकार की कषाय थी, उससे उसकी भी प्रवृत्ति बनी, ये सब कार्य वहाँ ही तो हुए, मेरे अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा में क्या आया? वह क्षमाशील रहता है। देखिये—जब कोई किसी संकट में फंस जाता है मानो किसी साम्प्रदायिक दंगे में वह फंस गया, वहाँ से गुजर रहा तो वह प्रत्येक बात को समता से सहन करता हुआ वहाँ किसी को कुछ उत्तर नहीं देता है। बड़ी कुशलता से उस क्षेत्र से निकल जाता है। ऐसे ही जहाँ संसार के अनेक संकट छाये हुए हैं, विचित्र कर्मबन्ध कषायवान लोगों का समागम, शारीरिक अनेक व्याधियां, अनेक प्रकार के जहाँ कष्ट हैं ऐसे इन दंगों में फंसा हुआ है यह जीव तो यह तो बड़ी कुशलता से सब को क्षमा करता हुआ सारी बातों को समता से सहता हुआ अपने आप में अपने बल को बढ़ाता हुआ वह इस संसार झंझटों से निकलना चाह रहा है। वह क्या दूसरे पर विरोध करेगा या द्वेष करेगा या गड़बड़ कार्य बनायगा। सम्यग्दृष्टि जीव के रत्नत्रय के धारी पुरुषों में और रत्नत्रय धर्म में भक्ति होती है, इनके प्रसाद से पार होऊंगा। पार होऊंगा तो इस निज निश्चय रत्नत्रय धर्म के प्रसाद से पार होऊंगा। सहजस्वरूप की भक्ति ही संसार शरीर भोगों से विरक्त रहने का कारण है। इस ज्ञानी पुरुष ने समस्त जीवों को अपने स्वरूप के समान निरखा है, परमात्मा के स्वरूप के समान देखा है। इस कारण सर्व प्राणियों में इसके दया का परिणाम रहता है। सो भी स्वदया के लिए पर दया और स्वदया का ज्ञानी पुरुष के लिए एक ही लक्ष्य है कि विषय कषाय मोह जाल से छूटकर निर्मोह अवस्था में पहुँचूँ यह ही भावना दूसरों के लिए है, यह ही भावना स्वयं के लिए है यह ज्ञानी पुरुष अपने साधर्मीजनों में वात्सल्य रखता हुआ धर्म के विकास के लिए प्रयत्नशील रहता है।

**सम्यग्दृष्टि का निर्दोष प्रवर्तन**—सम्यग्दृष्टि पुरुष के चित्त में किसी भी प्रकार की शंका नहीं है। श्री जिनेन्द्र देव ने उपदेश किया है वह यथार्थ है, वस्तु के अनुरूप है, ऐसा उसका वृद्ध निर्णय है। परिग्रह सहित मुनि भी मोक्ष जाता है या परिग्रह कपड़ा ओढ़ लिया तो क्या हुआ, भावों में भीतर निर्मलता जगे तो गृहस्थ भी मोक्ष जा सकता है, इस प्रकार को संशय इस ज्ञानी पुरुष के चित्त में नहीं रहता। उसका एक ही निर्णय है कि बाह्य और आभ्यन्तर समस्त परिग्रहों से रहित पुरुष ही मोक्ष जा सकता है। ज्ञानी के चित्त में कभी कोई शंका नहीं। किसी प्रकार का आत्मस्वरूप में भय नहीं रहता। ज्ञानी पुरुष न इस लोक में किसी पदार्थ की वाञ्छा रखता है, यह शरीर को अशुचि जानकर और आत्मा को शुचि जानकर यह बाह्य पदार्थों से हटकर निज आत्मस्वरूप में अपनी गति बनाता है और इसी कारण उसके कोई ग्लानि का परिणाम नहीं होता, दुःखी होने का परिणाम नहीं है। यह रत्नत्रय के विरुद्ध चलने वाले व धर्म के नाम पर अपने को गुरुदेव बताने वाले के प्रति कभी श्रद्धा नहीं जगती, न मन से उसके प्रति प्रशंसा का भाव रहता, किन्तु यह ही निर्णय रहता है कि मोक्षमार्ग यह नहीं है। मोक्षमार्ग तो यह निश्चय रत्नत्रय भाव है और इसी कारण किसी भी मिथ्यादृष्टि देव गुरु रूप में प्रसिद्ध करने वाले जीव का प्रशंसा स्तवन का भाव नहीं रहता। ऐसा यह सम्यग्दृष्टि जीव दर्शन प्रतिमा धारण करने का पात्र होता है।

**धर्मतीर्थ को निर्देष रखने का प्रयत्न**—अब देखिये पहली प्रतिमा का ब्रत लेने के लिए ही कितनी तैयारी चाहिए आत्मा की, फिर जो देखा देखी या किसी कारण से श्रावक के ऊंचे ब्रत या मुनि के ब्रत धारण कर लेता है तो भले ही अज्ञानी जनता उनका आदर करे दोष समझते हुए भी या न समझते हुए, जैन शासन को कलंकित करने का ही प्रयत्न है श्रावक का भी और उन ब्रत धारण करने वालों का भी। यह कलंक आज न विकसित हो तो कुछ समय बाद विकसित होगा अतएव जैन शासन को अत्यन्त पवित्र रखने के लिए श्रावक का यह कर्तव्य है जो शुद्ध वृत्ति से या उत्तम श्रावक की वृत्ति में रहना चाहता है वह यदि किसी मुनि दीक्षा के योग्य समझें तो समर्थन करें और दीक्षा योग्य न समझें तो वहाँ बराबर विरोध करें किं यह दीक्षा के योग्य नहीं है और हम इसमें शामिल नहीं हो सकते। एक बड़े विवेक की बात है, धर्म का प्रभाव होना मुनिधर्म होकर श्रावक धर्म दोनों को मानने वाले के आधार पर है।

**ज्ञानी जीव के इहलोकभय, परलोकभय, अरक्षाभय व अगुस्तिभय का अभाव**—देखिये कितनी बड़ी तैयारी है, दार्शनिक श्रावक होने के लिए। मुझ आत्मा में इस लोक का भय नहीं है कि क्या होगा मेरे जीवन में, कैसे कटेगी जिन्दगी? ज्ञानी को परलोक का भी भय नहीं है कि परलोक में मैं क्या बनूंगा। ये दोनों भय इस कारण से नहीं है ज्ञानी में कि उसने अपने को अमूर्त ज्ञानमात्रस्वरूप देखा और जाना कि इसमें भय का तो कोई काम ही नहीं है। जैसे अमूर्त आकाश है तो इसमें किसी दूसरे के द्वारा उपद्रव हो सकता क्या? ऐसे ही अमूर्त यह ज्ञानमात्र में आत्मा हूँ, मेरे स्वरूप में किसी दूसरे के द्वारा कोई उपद्रव हो सकता क्या? ज्ञानी के रंच भी भय नहीं हैं कि मेरी कौन पुरुष रक्षा करेगा? मैं बड़ा अरक्षित हूँ। ऐसा अरक्षा का भी भाव ज्ञानी पुरुष में हीं होता। वह जानता है कि मेरे को दूसरे से रक्षा की क्या जरूरत? मैं स्वयं आत्मा जब मैं सत् हूँ तो अपने आप सुरक्षित हूँ। किसी सत् का विघात नहीं होता। रही जीवन के गुजारे की बात तो जिस जीव में इतना ज्ञान है उसके इतना पुण्य तो है ही कि उसके जीवन का निर्वाह अनायास चलता रहेगा। वह अरक्षा का भय चित्त में नहीं लाता। मेरी रक्षा के साधन अच्छे नहीं हैं। अच्छा घर नहीं, मजबूत किवाड़ नहीं, कैसे सुरक्षा रहेगी, ऐसी कल्पना ज्ञानी जीव के नहीं होती। जो है सो है। लोग तो व्यर्थ ही तृष्णा के भाव को बढ़ाते हैं। तृष्णा बढ़ाते जाइये उसके सम्पदा की घटती तो आ सकती है मगर बढ़ती नहीं आ सकती, क्योंकि तृष्णा स्वयं एक पाप है। तो उस पाप को रखते हुए उसके पुण्यरस नहीं बढ़ सकता, पापरस ही बढ़ेगा, और जिसको तृष्णा नहीं है योग्य कार्यों में, योग्य उपकार में, वह उदारता की वृत्ति रखता है, त्याग दान की वृत्ति रखता है तो उससे पुण्यरस बढ़ता है, पापरस घटता है और वह भविष्य में अनायास ही सुख सुविधा को प्राप्त करता है। जैसे कुवें में से जल न निकाला जायतो होगा क्या कि वह जल सङ्ग जायगा, उसमें कीड़े पड़ जायेंगे। और यदि वह जल काम में आता रहे तो उसमें स्वच्छता भी बढ़ती है और-और जल में वृद्धि भी चलती है। ठीक इस प्रकार का कर्मविपाक और आत्मनिर्मलता का प्रसार इसी तरह होता है। यह ज्ञानी पुरुष जानता है कि मेरी अगुस्ति नहीं।

**सम्यग्दृष्टि जीव के मरणभय का वेदनाभय का आकस्मिक भय का अभाव**—ज्ञानी पुरुष को मरण का भय

नहीं होता, क्योंकि वह जान रहा कि यहाँ मेरा कुछ नहीं है । मैं अमूर्त ज्ञानमात्र अकेला निज स्वरूप वाला हूँ । यह जगह छोड़कर दूसरी जगह जाऊं तो ऐसा ही पूरा का पूरा सर्वत्र हूँ । मेरा मरण क्या? मैं तो मैं ही हूँ । यहाँ से छोड़कर दूसरी जगह पहुंचा मेरा तो विघात होता ही नहीं है । कुछ थोड़ा जो कुछ मरण के समय में जीव कष्ट मानता है वह मोह राग के कारण कष्ट मानता है । यह छूटा, मेरा यह देह छूटा, अरे देह भी छूटा हुआ था पहले । तेरी सत्ता न्यारी, देह की सत्ता न्यारी, ये घर, मकान, दौलत छूटे हुए ही हैं तेरे । तेरे स्वरूप में इनकी दखल नहीं है । इसके लिए क्या छोड़ना है? और जितना छूटेगा लोक व्यवहार के नाते उससे कई गुना अभी ही एक सेकेण्ड में मिलेगा, पर वह ज्ञानी जीव न आगे के मिलने की वाञ्छा रखता है न वर्तमान के छूटने का विषाद रखता है, उसकी दृष्टि में निज सहज शुद्ध आत्मा सदैव रहता है । शरीर में कोई वेदना हो जायतो उसका भी भय नहीं मानता । जो हुआ शरीर में हुआ यह आत्माराम तो इस शरीर से निराला अमूर्त ज्ञान स्वच्छता मात्र है इसको किस बात का भय? कुछ परिस्थितियाँ कभी होती हैं कि विकट ही रोग हो गया तो वह सहा नहीं जाता, ऐसा मानते हैं रोगी लोग । तो अत्यन्त विरक्तता है और स्पष्ट निराले आत्मा को निरखा है तो शरीर पर कितनी ही वेदनायें आये, शस्त्रघात हो जाय, अग्नि में जल जाय इतने पर भी ज्ञानी आत्मा के उफ नहीं होता । भूले ही यह बात श्रावक दशा में नहीं हो सकती मगर यह अवश्य होने योग्य बात है । संत पुरुष कर सकता है, श्रावक भी अपनी शक्ति का प्रसार करता हुआ बराबर यह ही निर्भयता की स्थिति बनाता है । ज्ञानी जीव को कभी अटपट कल्पनायें नहीं होती, आकस्मिक भय नहीं होगा । कहीं यहीं बैठे-बैठे बिजली न गिर जाय, कहीं तुम न गिर जाय कहीं यह छत मेरे ऊपर न टूटकर गिर जाय, यो अटपट कल्पनायें कर के मोहीजन अपने को दुःखी अनुभव कर लेते हैं, किन्तु ऐसी सनक ज्ञानी को नहीं हुआ करती ।

सम्यग्दृष्टि जीव के निःशल्यपना होने के कारण गुण सम्पन्नता की समृद्धि—ज्ञानी पुरुष के न मिथ्यात्व का शल्य है, न मायाचार का शल्य है, न परम्भव में कुछ मैं चाहूँ, पाऊँ, सम्पन्न होऊँ, इस भाव की शल्य है । ऐसा ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष दर्शन प्रतिमा धारण करने का अधिकारी होता है और ऐसी ही गुणसम्पन्नता के कारण यह सम्यग्दृष्टि जीव देव, देवेन्द्र, नरेन्द्रों के द्वारा वन्दनीय होगा । देवेन्द्र हुए, सौर्यम् आदिक इन्द्र नरेन्द्र हुए चक्रवर्ती आदिक । ऐसे महापुरुषों के द्वारा भी आत्मधुन रखने वाला और इसी कारण अपने आप ही योग्य सदाचार में रहने वाला पुरुष पूज्य होता है उसने चाहे ब्रत भी न धारण किया हो, १२ प्रकार के ब्रत न भी हों, यदि सम्यक्त्व सहित हो तो भी वह सबके द्वारा आदर के योग्य होता है । यदि साथ ही ब्रत भी हो तो सम्यग्दृष्टि भी है, सम्यक्चारित्रवान भी है तो वह तो विशेषतया पूज्य पुरुष होता है । सम्यक्त्व के रहते हुए कोई आयु बन्धती है तो देवायु ही बन्धती है । हां यदि कोई नारकी देव सम्यग्दृष्टि है उसके कोई आयु बन्धेगी तो मनुष्यायु ही बन्धेगी, इसी कारण सम्यग्दृष्टि पुरुष के यदि कुछ भव शेष है तो उत्तम भव ही प्राप्त होते हैं । तो ऐसी अनेक प्रकार की सुख सुविधाओं में रहता हुआ यह ज्ञानी पुरुष उनसे विरक्त रहकर अपने अंतरंग में प्रसन्नता का अनुभव करता है जिससे कि कर्म कटते हैं और इसका मोक्ष मार्ग क्षण-क्षण बढ़ता रहता है । ऐसे सम्यग्दृष्टि पुरुष दर्शन प्रतिमा का धारण करते हैं । तो उनके इस दर्शनप्रतिमा की क्या स्थिति होती है यह सब इस प्रतिमा

के लक्षण में बताया जा रहा है ।

**सम्यग्दृष्टि के तिरेसठ गुण**—जो जीव सम्यग्दृष्टि होता है वही प्रतिमा का धारक हो सकता है । जिसने पहली प्रतिमा का धारण नहीं कर पाया, किन्तु जो सम्यग्दृष्टि है उसमें कितनी विशेषतायें होती हैं, यह बात अभी बतलायी जा रही है । सम्यग्दृष्टि जीव में मूल गुण ४८ होते हैं अर्थात् ये ४८ बातें सम्यग्दृष्टि में होती ही हैं । आठ अंगों का होना तथा ८ मद, ६ अनायतन, ३ मूढ़ता इन १७ दोषों से रहित होना । यों ये २५ गुण हैं और इनके अतिरिक्त ८ गुण और होते हैं, सम्वेद निर्वेद आदिक जो कि अभी कहे गए थे । तो  $25+8=33$  हुए और उनमें ५ अतिचार नहीं होते । निरतिचार सम्यक्त्व होने से पूर्ण कहलाये । तो

$33+5=38$  हुए, और ७ भयों का त्याग, ३ शत्य न रहना, इस प्रकार  $38+10=48$  ये तो सम्यक्त्व के मूल गुण हैं । सम्यक्त्व होते ही इतना आचरण तो होता ही है, इसके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि में १५ उत्तर गुण होते हैं, अष्टमूल गुणों का पालन और सप्तव्यसनों का त्याग । दर्शन प्रतिमा में भी अष्टमूल गुणों का पालन बताया जायगा, पर वह है निरतिचार । तो निरतिचार होने के कारण वहाँ मर्यादित वस्तु का ही भक्षण होता है । तो इन मूलगुण और उत्तर गुणों से जो सम्यग्दर्शन के लिए बताया गया है उनसे अब यह अनुमान करिये कि मद्य, मांस, मधु के त्याग बिना, पंच उदम्बर के त्याग बिना सप्त -व्यसनों के त्याग बिना मनुष्य को सम्यग्दृष्टि कैसे कहा जा सकता?

**सम्यग्दृष्टि के दुर्गतिबन्धहेतुभूत कर्मबन्ध का अभाव**—जिस जीव में सम्यक्त्वगुण प्रधानतया है वह कल्याणार्थी पुरुषों के लिए आदर्श है । ऐसे पुरुष यदि आयु का बन्ध करते हैं तो देवायु का बन्ध करते हैं । सम्यग्दृष्टि जीव दुर्गति के कारणभूत कर्मों का बन्ध नहीं कर पाता । खोटे कर्मों का बन्ध संक्लेश परिणाम से होता है, खोटे आशय में होता है, पर जिसने आत्मा के सहजस्वरूप का परिचय पाया है उसके खोटा आशय नहीं रहता । संक्लेश परिणाम भी नहीं रहता । यद्यपि सम्यक्त्व होने पर भी कुछ संक्लेश परिणाम रह सकता है, किन्तु उसकी एक सीमा है । बताया गया है कि तीर्थकर प्रकृति के बंध में अधिक से अधिक तीर्थकर प्रकृति का स्थिति बंध वह जीव कर सकता है जो संक्लेश परिणाम वाला सम्यग्दृष्टि हो । तो वहाँ संक्लेश का अर्थ विशेष नहीं, यथा सम्भव है याने जो पुरुष सम्यग्दृष्टि घोड़श कारण भावना भा रहे हैं जिसके दर्शन विशुद्धि भावना के साथ कुछ अन्य भावनायें भी चल रही हैं, वह यदि विशुद्ध परिणाम में है तो तीर्थकर प्रकृति की स्थिति कम बनेगी और यदि संक्लेश परिणाम में है तो तीर्थकर प्रकृति की स्थिति बहुत अधिक बनेगी । यद्यपि सुनने में ऐसा लगता होगा कि संक्लेश परिणाम से तो तीर्थकर प्रकृति की स्थिति कम होनी चाहिए और विशुद्ध परिणाम से अधिक होना चाहिए । किन्तु विचार करें कि तीर्थकर प्रकृति की स्थिति अगर अधिक बने तो उसका अर्थ क्या होगा? इसे संसार में बहुत दिन रहना पड़ेगा और यदि उसकी स्थिति कम बंधी तो बिल्कुल स्पष्ट है कि वह संसार में थोड़े समय रहेगा और मोक्ष जायगा । तो ऐसा संक्लेश परिणाम भी सम्भव है सम्यग्दृष्टि के, किन्तु वह सीमित है यों सम्यग्दृष्टि पुरुष दुर्गति के कारणभूत अशुभ कर्मों का बंध नहीं करता ।

**सम्यग्दृष्टि के पूर्वानेक भवबद्ध दुष्कर्मों का क्षय**—जो पहले भवों के बाधे हुए पापकर्म हैं उनका नाश कर देता

है सम्यगदृष्टि । देखिये कर्मों का नाश करने के लिए इस आत्मा को कुछ कर्म या यत्न नहीं करना पड़ता, यह तो अपने भावों को विशुद्ध बना रहा है । कर्म अपने आप झङ्ग जाते हैं, जैसे कोई धोती धोई गई फैलाते समय में वह धोती नीचे गिर गई, धूल में वह लिपट गई, तो उस धूल को अलग करने के लिए कुछ अलग से यत्न नहीं करना पड़ता, किन्तु उस धोती को धूप में सुखाने के लिए फैला दिया, धोती सूख जायगी तो वह धूल जरा से डिस्ट्रिक्ट के में या बिना ही यत्न के वह अपने आप झङ्ग जाती है । यह एक मोटी बात कह रहे हैं, किन्तु यहाँ आभ्यंतर में तो यह बिल्कुल ही सही है कि आत्मा तो अपने भावों को निर्मल करता है तो कर्म अपने आप झङ्ग जाते हैं । आशय अच्छा बनाना और कथायों को दूर करना बस यह ही एक पुरुषार्थ है जिससे जीव का उद्धार होता है ।

जिन में सम्यगदृष्टि की उत्पत्ति नहीं ऐसी दुर्गतियों का निर्देश—दुर्गतियां कौन हैं जिनके कारण भूत कर्मों का बंध सम्यगदृष्टि नहीं करते । ऐसी दुर्गतियां नीचे के ६ नरक हैं । यद्यपि पहला नरक भी दुर्गति है, किन्तु वहाँ सम्यगदृष्टि का उपपाद सम्भव है, क्षायिक सम्यगदृष्टि जीव मरकर पहले नरक में उत्पन्न हो सकता है । इससे नीचे नरक में नहीं । तो यहाँ उन दुर्गतियों को बतला रहे हैं कि जिन दुर्गतियों के कारणभूत कर्मों को सम्यगदृष्टि नहीं बांधता । यह नरकायु सम्यक्त्वोत्पत्ति से पहिले बंधी थी, भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव ये दुर्गति कहलाते हैं, अथवा यों समझ लीजिए कि सम्यगदृष्टि जीव सम्यक्त्व में मरण करके जिन-जिन जगहों में उत्पन्न नहीं सके वे सब दुर्गति कहलाती हैं । दुर्गति इसके अतिरिक्त और भी है, पर ये वे विशेष दुर्गतियां हैं कि जो संसार परम्परा के साधनों को बनाये रखती है । सम्यगदृष्टि जीव स्त्री पर्याय में उत्पन्न नहीं होता नपुंसकों में उत्पन्न नहीं होता । स्थावर विकलत्रय असंज्ञी जीव कुभोगभूमियां म्लेच्छ देश आदिक में सम्यगदृष्टि की उत्पत्ति नहीं होती । चाहे उनके ब्रत भी न हो तो भी सम्यगदर्शन का इतना माहात्म्य है कि सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला पुरुष दुर्गतियों में नहीं जाता । ऐसा ज्ञानी पुरुष दर्शन प्रतिमा का धारक हो पाता है । सम्यक्त्व ऐसा अद्भुत वैभव है कि जिसके समान वैभव तीन लोक तीन काल में कुछ हो ही नहीं सकता । ऐसा यह जघन्य पात्र सम्यगदृष्टि का यह वर्णन चल रहा है फिर जो प्रतिमाधारी बनेगा वह मध्यम पात्र कहलाने लगता है, ऐसे सम्यगदर्शन युक्त जीव दर्शन प्रतिमा को धारण करता है ।

दार्शनिक श्रावक के निरतिचार अष्टमूल गुणपालन तथा सप्तव्यसन त्याग—दार्शनिक श्रावक पद में इसका कितना सदाचार होता है अब यह बताते हैं । जो जीव बहुत त्रसों से युक्त पदार्थों को नहीं सेवन करता, मद्य, मांस आदिक पदार्थों को नहीं सेवता, निन्दित द्रव्यों का सेवन नहीं करता वह पुरुष दर्शनप्रतिमा का धारक कहलाता है । दर्शन प्रतिमा के लक्षण में बताया गया है—सम्यगदर्शन से सम्पन्न, संसार शरीर व भोगों से विरक्त, पंच परमेष्ठियों के चरणों की शरण लेने वाला जीव दार्शनिक श्रावक होता है । वह दार्शनिक श्रावक निरतिचार अष्ट मूल गुणों का धारी होता है । तो मांस आदिक जो निन्द्य पदार्थ हैं, उनके भक्षण का तो प्रश्न ही नहीं, किन्तु जिन पदार्थों में त्रस जीव उल्पन्न होने की योग्यता हो गई है ऐसे पदार्थों को भी नहीं खाता, अर्थात् चलितरस पदार्थों का भक्षण नहीं करता । अब कौन पदार्थ कितने दिनों में चलितरस हो जाता है, यह स्पष्टीकरण

ग्रन्थों में तो नहीं मिलता कुछ का ही मिलता है। पर जैसे प्रसिद्ध है और हिन्दी भाषा ग्रन्थ बनाने वालों ने लिखा है उसके अनुसार कुछ मर्यादायें कही गई हैं आटा आदिक, की ऐसी मर्यादा से बाहर का पदार्थ हो जाने पर उसमें त्रस जीव पैदा होने की योग्यता हो जाती है। जैसे कभी १५ दिन धरा रहे आटा तो वह सीड़ा हो जाता है व उसमें लट हो जाती है, तो यह बतलावों कि वह लट किस दिन पैदा हुई? उसमें जीव किस दिन पैदा हुए? जो चलते हुए लट नजर आये वे स्व ही रात में नहीं बन गए। उसमें जीवोत्पत्ति की योग्यता बहुत दिन से चल रही थी और जीव उत्पन्न होना प्रारम्भ हो रहे थे यह तो शुद्ध तीर्थ प्रवृत्ति के लिए मानना ही होगा कि ये पदार्थ इतने दिन तक खाये जा सकते हैं इसके बाद नहीं। तो जो प्रसिद्ध है वह इस प्रकार है कि बरसात के दिनों में ३ दिन का, गर्मियों में ५ दिन का व सर्दियों में ७ दिन का ही खाया जा सकेगा। अन्य-अन्य पदार्थों की अन्य-अन्य प्रकार की मर्यादा हैं। यद्यपि सूक्ष्मतया यह भी पूरा घटित नहीं किया जा सकता। कोई शिमला वगैरह स्थान जहाँ गर्मी में भी ठंड रहती है तो शोधक लोग बता सकेंगे कि वहाँ कुछ अधिक दिन भी आटा चल सकता है। कोई मुल्क सदैव वर्षा वाले हों तो वहाँ बहुत कम म्याद रह सकती है। फिर भी कुछ म्याद बताये बिना लोग कैसे उस आचरण में चलें इसलिए यह म्याद बतायी गई है। तो दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक ऐसा ही भोजन करता है जैसा भोजन साधु संतों को दिया जा सकता है। इसके अब रात्रि भोजन का प्रसंग न रहेगा। यद्यपि रात्रि भोजन त्याग नाम की छठी प्रतिमा कही है फिर भी वहाँ मन, वचन, काय कृतकारित अनुमोदना से त्याग कहा है। यहाँ यह स्वयं नहीं करता। तो दर्शन प्रतिमा में रात्रि भोजन का त्याग है और अभक्ष पदार्थों का त्याग है। सप्त व्यसनों का त्याग है और इतना त्याग होने के कारण यह जीव मोक्षमार्ग में गमन करने वाला कहा जाता है।

**दार्शनिक श्रावक की दृढ़चित्तता, मायापाखण्डरहितता—**यह दार्शनिक श्रावक अपनी भावना में दृढ़ चित्त है, जो मद्य मांस आदिक का त्याग बताया गया है उस प्रतिज्ञा को नियमपूर्वक निभाव करता है। इसका मन चलायमान नहीं है क्योंकि अविकार ज्ञानस्वभाव के विकास का जिसके ध्येय बन गया है उसमें मायाचार कपट, पाखण्ड नहीं होता, मायाचार में सभी बातें आ जाती हैं, फिर भी विशेषतया यह जानना कि जो पाखण्ड मायाचार करता है वह उसका बहुत खोटा परिणाम है, ऐसा पुरुष प्रतिमाधारी नहीं हो सकता। त्यागी वती साधु श्रावक बहुत सरल होता है और सहज जो उसकी मुद्रा बनी, भेष बना उसके उठने बैठने बोलचाल का जो सरलतया ढंग बनता है वह है पाखण्ड से रहित। पाखण्ड तो सम्यग्दृष्टि ही नहीं करता। प्रतिमाधारी की बात तो विशेषतया है। जो पुरुष अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए किसी प्रकार का बाहरी काम, पाखण्ड का कार्य करता है जैसे कि अपने बारे में अपनी बुद्धि से बात फैलाना कि मैं दूसरों को सुखी करता हूँ, गंडा तावीज देना और इस बुद्धि से कि इसमें मेरा नाम यश फैलेगा, ये सब बातें पाखण्ड की हैं। पाखण्ड का काम इस प्रतिमाधारी के नहीं रहता। जिसको लौकिक यश की चाह हो वही पाखण्ड में पड़ता है। यह ज्ञानी जानता है कि मैं अमूर्त ज्ञानमात्र हूँ। इस मुझ को कोई नहीं जानता। जो लोग जानते हैं सो इस देह को जानते हैं और इस शकल से ही मेरे को समझते हैं, पर मैं यह शकल ही नहीं हूँ, यह शकल तो किसी दिन आग में जल जायगी। यह

देह मैं नहीं हूँ, मैं अमूर्त ज्ञानमात्र हूँ। अब इसको लोक में यश की क्या जरूरत? आवश्यकता तो यह है कि इस मुझे अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा में यथार्थ ज्ञानप्रकाश हो और यह मैं अपने आपके स्वरूप में मग्न होकर रमता रहूँ बस यह ही प्रयोजन है मुझे, अन्य कुछ बात न चाहिए। ऐसा जिसका मन दृढ़ है वह पुरुष पाखण्ड कैसे करेगा?

**दार्शनिक श्रावक को निदानरहितता व संसार शरीर भोग निर्विण्णता**—यह दार्शनिक श्रावक निदान से रहित है। न लोक में धर्म के एवज में सुख की अभिलाषा करता है, न परलोक में सुख की अभिलाषा करता है। जो हो सो हो। मेरे को तो अपना सहजस्वरूप निरखकर इस ही में उपयोग बसाये रहने का काम है, अन्य कुछ बातपर मेरा अधिकार नहीं। जो मेरे अधिकार की बात है, मेरे स्वरूप में है बस उस ही में रमता हूँ, यही वृत्ति होती है ज्ञानी पुरुष की और इसी कारण परलोक सम्बंधी कल्पना ही यहाँ नहीं करता और परलोक इहलोक है क्या? इहलोक मायने यह आत्मा, परलोक मायने उत्कृष्ट आत्मा। पर का अर्थ उत्कृष्ट भी है, पर का अर्थ दूसरा भी है। तो जो यह उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूप है यह ही तो मेरा लोक है यह ही परलोक है। तो जो अपने आपके सहज स्वरूप में निवास करता है उसको निदान नहीं हो सकता। यह दार्शनिक श्रावक संसार, शरीर, भोगों से विरक्त है। संसार रागद्वेष विकारभाव ये कर्म का निमित्त पाकर हुए हैं नैमित्तिक हैं, मेरे स्वभाव नहीं है, ऐसा जानने वाला विकार में राग नहीं रख रहा। यह शरीर अपवित्र है, हाड़, मांस आदिक का पिण्ड है, अत्यन्त भिन्न है, ऐसे शरीर से क्या राग करना? ज्ञानी श्रावक को शरीर से राग नहीं होता। भोग पञ्चेन्द्रिय के विषयों का उपभोग, ठंडा गर्म, सुहा गया, रुखा, चिकना, कोमल, कठोर सुहा गया, यह स्पर्श इन्द्रिय का भोग। मीठा, खट्टा, इष्ट रस सुहा गया, यह रसना इन्द्रिय का भोग है। सुगंध, इत्र, तेल फुलेल आदिक सुहा गये, यह घ्राणेन्द्रिय का भोग है। सुन्दर रूप, इष्ट रूप, सुहा गया, यह चक्षु इन्द्रिय द्वारा भोग है, और सुन्दर शब्द, राग रागनी के शब्द सुहा गए, यह कर्णेन्द्रिय का भोग है और दुनिया में नाम हो, प्रशंसा हो, यश हो ऐसी भीतरी बात सुहा गयी, यह मन का भोग है। इन भोगों को- सम्यग्दृष्टि जीव क्या चाहेगा? जिसने अपने ज्ञान को ज्ञान में लेकर अनुभव कर के अलौकिक आनन्द प्राप्त किया है वह इन असार पराधीन भोगों की कैसे चाह करेगा? यह दार्शनिक श्रावक भोगों से विरक्त है।

**दार्शनिक श्रावक की पञ्चगुरुचरणशरणता**—दार्शनिक श्रावक शरण मानता है तो अपने आपके स्वरूप को शरण मानता है। और चूँकि अपने स्वरूप की सुध, अपने स्वरूप का विकास पंचपरमेष्ठियों के गुणों के स्मरण के निमित्त से होता, सो वह पंचपरमेष्ठियों के चरणों में वह शरण मानता है। कोई पुरुष यदि गुरुरहित है, ऐसा सोचता है कि मैं स्वयं बुद्धिमान हूँ, मेरा गुरु मैं ही हूँ, अध्यात्म में कहते हैं ना कि आत्मा का गुरु आत्मा ही है, और इस प्रकार किसी गुरु की छाया में न रहे और अपने को निर्गुरु रखकर जीवन बिताये तो उसमें वह आत्मसंयमन नहीं हो पाता है, और प्रगति की दिशा प्रेरणा नहीं मिल पाती है जिस कारण से वह आगे प्रगति नहीं करता। इसलिए गुरुओं के चरणों का शरण ग्रहण करना, कल्याणार्थी के लिए आवश्यक है। ऐसे गुरु

उत्कृष्टतया ये आचार्य उपाध्याय साधु हैं और कोई केवल गुरुभक्ति तक ही सीमित रहे, उसके आगे कोई आदर्श न देखे तो भी वह आगे प्रगति नहीं कर पाता। मुझे क्या बनना है, कैसे लक्ष्य सिद्ध करना है, यह ही जिसकी दृष्टि में नहीं है वह प्रगति क्या करेगा? अच्छा मकान बनाने के लिए पहले अच्छे नक्शे ढंग से बनावाये जाते हैं ताकि यह तो याद रहे कि मकान बनाते हुए मैं ऐसा बनाना है आगे चलकर और जिसके चित्त में वह पूरा मकान बनवाये जाने का नक्शा नहीं तो वह कैसे मकान बनवायगा? भले ही वह हाथ पैर की क्रियायें कर रहा हो पर उसके दिशा भूल है ऐसे ही अरहंत सिद्ध प्रभु की सुध न होने के कारण धर्ममार्ग में प्रवृत्ति कर के आखिर मुझे बनना क्या है मेरी स्थिति क्या बनेगी, यह बात जब चित्त में नहीं है तो भी मोक्षमार्ग में प्रगति नहीं हो सकती। इस कारण यह दार्शनिक श्रावक, मोक्ष पक्ष में चलने वाला भव्य पंचपरमगुरु के चरण की शरण ग्रहण करता है। उसके शरण ग्रहण करने के मायने यह है कि उनके गुणों में अनुराग होना और गुरुजन जो मार्ग बतायें उस मार्ग के प्रति श्रद्धान रखना कि मेरा भला इसही मार्ग से चलकर होगा, यह ही उन पंच परम गुरुओं के चरणों की शरण ग्रहण करना कहलाता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव निरतिचार अष्टमूल गुण पालता हुआ, निरतिचार सप्त व्यसन त्याग को धारण करता हुआ निरन्तर आत्मा की धुन रखने वाला पंच परम गुरुओं के गुणों में अनुराग रखने वाला श्रावक दार्शनिक श्रावक कहलाता है।

## श्लोक 138

निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि ।

धारयते निःशल्यो योऽसौ ब्रतिनां मतो ब्रतिकः ॥१३८॥

**अर्थ—**निरतिचार पाँचों अणुव्रतों और सप्तशीलों को भी जो तीनों शल्यों से रहित धारण करता है वह ब्रतियों में ब्रतिक पद का धारी माना गया है।

**ब्रतप्रतिमाधारी श्रावक का स्वरूप—**इस आर्याछन्द में दूसरी प्रतिमा के धारण करने वाले दार्शनिक का निरूपण किया गया है जो अतिचार रहित ५ अणुव्रत को तो लिखा है निरतिचार, पर ७ शीलों को अपि शब्द कह कर कहा गया है। इससे यह प्रसिद्ध होता है कि ७ शीलों के अतिचार तो कदाचित् लगते रहते हैं दूसरी प्रतिमाधारी श्रावक को, किन्तु ५ गुणव्रत निरतिचार ही रहते हैं, ५ अणुव्रत हैं—(१) अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत (३) अचौर्याणुव्रत (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत और (५) परिग्रह परिमाणाणुव्रत। तीन गुणव्रत हैं, (१) दिग्व्रत (२) अनर्थ दण्डवत और (३) भोगोपभोग परिमाणव्रत। ४ शिक्षाव्रत है—(१) सामायिक (२) प्रोष्ठोपवास (३) अतिथि सम्बिभाग और (४) सल्लेखन। इस प्रकार से इन १२ ब्रतों का जो पालन करता है वह ब्रती श्रावक माना गया है।

**ज्ञानी की दृढ़चित्तता व क्षमाशीलता—**यह ब्रती श्रावक दृढ़ चित्त है, जो प्रतिज्ञा ली है उससे चलित नहीं होता। कुछ उपसर्ग उपद्रव भी आये तो उन्हें भी समता से सह लेता है। इसके परिणाम क्षमाशील है, उसने सर्व जीवों को अपने समान स्वरूप वाला निरखा है और जाना है कि आत्मा तो सहज निरपराध है, जो कुछ विकार

है वह सब कर्म का प्रतिफलन है। इस आत्मा का क्या अपराध? यद्यपि कर्मोदय में इस आत्मा के ही गुण विकृत हुए मगर स्वभाव से तो ऐसा विकृत नहीं होता। तो स्वभावदृष्टि से दूसरे जीवों को निरखता है इस कारण यह क्षमाशील बना रहता है।

(१) ब्रती श्रावक की दयाप्रवृत्ति व महारम्भ से निवृत्ति—यह ब्रती श्रावक दया सहित अपनी प्रवृत्ति करता है। किसी भी जीव को मेरे द्वारा आघात न पहुंचे, ऐसा भाव रखता है, क्योंकि उसने सर्व जीवों को अपने समान माना इस कारण जैसे किसी दूसरे की चेष्टा में अपना दिल दुःखे तो ऐसे ही दूसरे का भी दिल दुखता है, विघात होता है, इस कारण वह अपने समान ही पर को मानने वाला ब्रती श्रावक कोई भी व्यापार प्रवृत्ति ऐसी नहीं करता जिसमें दूसरे जीवों को कोई बाधा पहुंचे और कदाचित् कभी थोड़ा प्रमाद हो जायते उसकी निन्दा और गर्हा करता है, अपने आप में पछतावा करता है और गुरु के समक्ष दोषों का निवेदन करता हुआ और उनका प्रायश्चित लेता हुआ उसका पालन करता है। यह ब्रती श्रावक महान् आरम्भ वाले कार्यों का त्याग कर देता है, जैसे खेत जोतने का व्यापार, भूमि खोदने का व्यापार, पत्थर निकालने का, संगमरमर निकालने का और-और भी धातु उपधातु निकालने का व्यापार, कोयला निकालने का ऐसे व्यापार को नहीं करता। और भट्टा लगाना, जंगल फुकवाना, तालाब सुखवाना, जंगल काटना, ऐसे महान् आरम्भ वाले व्यापार को ब्रती श्रावक नहीं करता, क्योंकि इस व्यापार में बड़ी हिंसा है।

ब्रती श्रावक की त्रसघात से दूरवर्तिता—यह ब्रती श्रावक त्रस जीवों के घात को न तो स्वयं करता है, न दूसरों से कराता है, न करते हुए को अनुमोदता है, याने कृतकारित अनुमोदना से उसके त्रस घात का त्याग है और वह मन, वचन, काय से स्वयं अपने ही द्वारा मन से विचारकर त्रस जीवों के घात को नहीं करता, मायने त्रस घात का वह मन में विचार नहीं करता। दूसरे पुरुष को भी प्रेरणा करे उसका घात कराये, ऐसा मन में चिन्तन नहीं करता। कोई जीव त्रस घात करता हो तो उस पुरुष की मन से अनुमोदना नहीं करता कि मन में सोच ले कि इसने अच्छा किया। इसी प्रकार वचन से भी त्रस घात का परिहार करता है। वचन से स्वयं त्रस कायिक जीवों का घात नहीं करता। खोटे वचन बोलने से जीवों को तकलीफ होती है। तो वचनों से हिंसा नहीं करता अथवा हिंसा सम्बन्धी वचन नहीं बोलता। तुझे मारूंगा, हिंसा करूंगा, आदिक वचनों से वह दूर रहता है। वचन से त्रस घात की हिंसा नहीं कराता। जैसे दूसरे की वचनों द्वारा प्रेरणा दे कि तू यह काम करले जिसमें कि त्रस घात होता है इसी तरह वचनों से अनुमोदना भी नहीं करता, किसी का किसीने घात किया हो तो उसका वचनों से समर्थन करे, शाबासी दे, अनुमोदना करे, यह प्रवृत्ति ब्रती श्रावक की नहीं होती। इसी प्रकार शरीर से भी न त्रसघात करता है न शरीर से कराता है और न करते हुए को शरीर से अनुमोदता है। जैसे मुख हिलाना, हाथ हिलाना आदि इस प्रकार की काय चेष्टाओं से समर्थन नहीं करता है। यों कोटि से त्रस घात का, हिंसा का त्याग करने वाला जीव ब्रती श्रावक कहलाता है।

(२) ब्रती श्रावक के सत्याणुब्रत का पालन—सत्याणुब्रत में यह जीव अपने वचनों का बड़ा नियंत्रण रखता है। हिंसा के वचन न बोलेगा। जैसे कि लोग जरासी भी बात में, दिल दुःखने की कह देते हैं मारने छेदने

आदिक की बातें ऐसे कर्कश वचन किसी को न बोलना । जो वचन दूसरे को चुम्बे ऐसे वचनों को व्रती श्रावक नहीं बोलता । जैसे कि तू मूर्ख है, तू बैल है, तू कुछ नहीं जानता है, तू बड़ा दुष्ट है, मैं तुझे मारूंगा, छेदूँगा, ऐसे वचन व्रती नहीं बोलता । यह दूसरे की गुप्त बातों को भी नहीं कहता । जैसे किसी का कोई गुप्त वार्तालाप हो तो उसे प्रकट करने में यह तो मानता है कि इसे क्लेश होगा, कष्ट होगा, ऐसा जानकर वह गुप्त बात को प्रकट नहीं करता, किन्तु दूसरों का जिससे हित हो ऐसे प्रिय वचन परिमित शब्दों में बोलता है । यह व्रती श्रावक धर्म सम्बंधी वार्ता ही अधिक करता है । चूंकि यह गृहस्थी में है इस कारण कभी आजीविका आदिक सम्बंधी वार्ता करता है और आत्मा का अनुभव करने में जो अलौकिक आनन्द पाया है उसका निरन्तर स्मरण करने से धर्म सम्बंधी वचन बोलने में इसकी प्रायः वृत्ति रहती है । यह कभी धन आदिक संग्रह करने के लिए, दूसरों को ठगने वाला मिथ्या उपदेश नहीं करता । यह कभी भी पुरुषों के रहस्य की एकान्त की बात प्रकाशित नहीं करता । किसी पुरुष ने कोई बात कही हो अथवा न कही हो, वह एक की दूसरे से चुगली नहीं करता, और कभी ऐसे वचन नहीं बोलता कि जिसमें धरोहर का अपहरण हो । जैसे कोई मानो ५ हजार रुपये किसी के पास रख गया, अब मांगते समय उसे ४ हजार का ही याद है, तो वह कहता है कि जो मैं ४ हजार रुपये तुम्हारे पास रख गया था वे दे दो, तो वह बड़ा प्रसन्न होकर बोलता, हां-हां ले जावो । उसे मालूम है कि १ हजार यह भूल रहा है लेकिन उसे न बोलना, ऐसा काम व्रती श्रावक नहीं करता । ऐसे ही दूसरे के कोई अभिप्राय जान ले और ईर्ष्या के कारण उसके अभिप्राय को प्रकाशित करे, यह होती है ईर्ष्या वाले पुरुष की चेष्टा, ऐसे वचन व्रती श्रावक नहीं कहता, इस प्रकार यह व्रती श्रावक सत्याणुव्रत का करता है ।

(३) व्रती श्रावक का अचौर्याणुव्रत—अचौर्याणुव्रत में दूसरे की धरी, पड़ी, गिरी चीज को नहीं ग्रहण करता, यह तो है ही, पर बहुत मूल्य की चीज अल्प मूल्य में नहीं ग्रहण करता । यद्यपि देखने में ऐसा लगता है कि वहतो एक रोजगार है वह दे रहा है, खुश होकर भी दे रहा है, पर यह तो जानता है कि यह बहुत मूल्य की चीज है, मैं इसे चौथाई में ही ले रहा हूँ तो इसको तो पूरा चोरी का दोष है । व्रती श्रावक इस तरह से अल्पमूल्य में चीज ग्रहण नहीं करता । किसी की चीज भूली पड़ी हो उसे भी नहीं लेता । थोड़ा भी लाभ हो अपने रोजगार में उसमें भी वह संतुष्ट रहता है । इस व्रती श्रावक ने अपने जीवन का लक्ष्य धन का संग्रह करना नहीं बनाया, लक्ष्य बनाया है कि मैं आत्मा के सहज स्वरूप का अनेक बार अनुभव करता रहूँ और इस सहज ज्ञानस्वभाव के ज्ञान के अभ्यास से संसार के संकटों से छूट जाऊँ यह ही लक्ष्य रहता है । जब धन संचय का लक्ष्य नहीं है तो यह अपने आप ही वृत्ति बनती है कि थोड़ा भी लाभ हो तो उसमें भी संतोष रहता है । यह व्रती श्रावक मायाचार से अथवा लोभवश होकर या क्रोध, मान के कारण किसी दूसरे के द्रव्य का हरण नहीं करता । इसकी मति विशुद्ध है अपने लक्ष्य में दृढ़ चित्त है, इस प्रकार यह व्रती श्रावक अचौर्य व्रत का पालन करता है ।

(४) व्रती श्रावक का ब्रह्मचर्याणुव्रत—ब्रह्मचर्याणुव्रत में इस व्रती श्रावक की अविकार ब्रह्मस्वरूप पर दृष्टि होने से निरन्तर आत्मतत्त्व की धुन रहती है । और ऐसे ही परमार्थ ब्रह्मचर्य की साधना में उमंग रहती है । यह फिर

बाह्य ब्रह्मचर्य की भी सुरक्षा रखता है। यह शरीर अशुचिमय है। हाड़, मांस, लोहू, चाम, दुर्गन्धमय ऐसे देह को देखकर उसका रूप और सुन्दरता जो कि मन की मुग्ध करने वाली है, उसको दुर्गन्ध और अशुचि के रूप में ही देखता है, शरीर पर जो चमक दमक है सो शरीर में रहने वाले मल रु आदि दुर्गन्धित चीजें उनके ऊपर चमड़ी होने से यह ऊपर कुछ सुन्दरता नजर आती है। उसका कारण ये दुर्गन्धित पदार्थ ही है। सो इस प्रकार अशुचिमय देह को निरखकर यह विकार के भावों से रहित रहता है, पर स्त्री को बहिन बेटी की तरह मानता है और किसी भी स्त्री में मन, वचन, काय से किसी भी प्रकार का विकारभाव नहीं लाता और स्व स्त्री में ही यह संतोष भाव से रहता है। ऐसा यह ब्रती श्रावक ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन करता है। इन सब ब्रतों के सम्बंध में जब ब्रती श्रावक का वर्णन चला था इसी ग्रन्थ में वहाँ विशेषतया वर्णन किया गया था, कैसे वह निरतिचार पालन करता है? अपने पुत्र पुत्री आदिक को छोड़कर अन्य मित्र स्वजन, परिजनों का यह विवाह करने करने में अपना उपयोग नहीं लगाता। यह ब्रती श्रावक अनंग अर्थात् कामसेवन के अंग से भिन्न प्रकार क्रीड़ा नहीं करता, अयोग्य वचन नहीं बोलता, स्वस्त्री में भी अतीव तृष्णा नहीं रखता और जो कुशील स्त्री हैं उनसे रंचमात्र भी वचन व्यवहार नहीं रखता। उनके यहाँ आना-जाना, यह प्रवृत्ति नहीं करता। बाड़ बतायी गई है, उनके विरुद्ध प्रसंगों का परिहार करता हुआ बाड़ों की रक्षा करता हुआ यह आत्मधुन में रहकर अपने ब्रह्मचर्याणुव्रत का पूर्ण पालन करता है।

(५) ब्रती श्रावक का परिग्रह परिमाणाणुव्रत—ब्रती श्रावक जिन्होंने इन पौद्गलिक पिण्डों को, अपने से भिन्न निरखा है और उन पौद्गलिक पिण्डों से अपने में कुछ भी नहीं आता। सुख-दुख सब कुछ खुद की कल्पना से ही होते हैं, जिनका ऐसा निर्णय है वे बाह्य पदार्थों में तृष्णा कैसे करेंगे? लोभ का नाश कर संतोष रसायन से ही यह ब्रती निर्दोष रहता है। यह समस्त जगत के समागम को विनश्वर जानता है अतएव उसके तृष्णा न रही, लेकिन जब तक यह गृहस्थी में है तब तक कुछ परिग्रह रहे बिना जीवन नहीं चल सकता, अतएव परिग्रह तो है किन्तु उनका परिमाण कर लेता है। मुझे अधिक परिग्रह की आवश्यकता ही नहीं है ऐसे निर्णय के कारण वह वर्तमान परिस्थिति के अनुसार परिग्रह का परिमाण करता है, और कभी भी यह अतिचार नहीं लाने देता कि कभी कोई परिग्रह परिमाण को कम करले। उसके एवज में किसी दूसरे प्रकार का परिग्रह बढ़ा ले या कोई भीतर की सीमा तोड़कर उसे परिमाण समझकर कुछ बढ़ा ले ऐसी वृत्ति ब्रती श्रावक की नहीं होती। तो निरतिचार ५ अणुव्रत जिस श्रावक के पलते और ७ शील का भी जिसके पूर्ण अभ्यास चलता है, कुछ-कुछ अतिचार भले ही लगें मगर उनकी प्रतिज्ञा को निभाता है वह पुरुष ब्रती श्रावक है। मुख्य ७ शीलों में यदि पूर्णतया निरतिचार तो फिर अगली प्रतिमा किसलिए धारण करता है? दूसरी प्रतिमा से आगे की जो प्रतिमायें हैं, परिग्रह त्याग प्रतिमा से पहले-पहले की वे ७ शीलों की पुष्ट करने के लिए ही हैं। जैसे तीसरी प्रतिमा से सामायिक शिक्षा ब्रत का पूर्ण पालन है, चौथी प्रतिमा में प्रोषधोपवास ब्रत का निरतिचार पालन है। ऐसे निरतिचार शील अगली प्रतिमा में पलते हैं, फिर भी यह ब्रती श्रावक निरतिचारों को पालने का ही ध्यान रखता है। यों बारह ब्रत पालन कर अपने जीवन में आत्मतत्त्व की दृष्टि का दृढ़ अभ्यास बनाता है।

(६) ब्रतीश्रावक का दिग्ब्रतनामक अणुव्रत—अब ५ अणुव्रत के बाद ३ गुणव्रत का निरूपण आ रहा है। उन गुण व्रतों में प्रथम गुणव्रत है दिग्ब्रत। इस ब्रती श्रावक ने अपने लोभ कषाय के विनाश के लिए सर्व दिशाओं का परिमाण कर लिया है कि मैं अमुक-अमुक दिशा में इतने क्षेत्र से बाहर न जाऊंगा, न सम्बंध रखूँगा, ऐसा दिग्ब्रत लेने का प्रयोजन है लोभ का विनाश। कभी यह तीर्थयात्रा के लिए अथवा अन्य धार्मिक कार्यों के लिए कुछ मर्यादा से बाहर भी जाता है, पर वहाँ लोभ की अगर प्रवृत्ति रखेगा या साथ ही यह सोचेगा कि यहाँ तक तो आये ही हैं, यहाँ यह चीज सस्ती मिलती है, इसे लेते चलें, काफी लाभ मिल जायगा, तो ऐसा करने पर उसके दिग्ब्रत का भंग हो जायगा। दिशाओं की मर्यादा करने के लिए प्रसिद्ध क्षेत्रों का निर्देश इसके लिए बहुत स्मृति रखने वाला होता है। जैसे उत्तर दिशा में हिमालय पर्वत तक, दक्षिण में कन्याकुमारी महानदी तक, इस प्रकार किसी प्रसिद्ध क्षेत्र का या किसी पर्वत का नाम लेकर मर्यादा कर ली जाती है। अथवा मील कोश का परिमाण की मर्यादा कर ली जाती है। जो मर्यादा की है उसमें बाहर न जाना यह दिग्ब्रत कहलाता है। उस मर्यादा के बाहर यह पत्र भी न डालेगा, वहाँ किसी अपने आदमी को भी न भेजेगा। कोई सोचे कि मेरा तो नियम है कि मैं हिन्दुस्तान से बाहर न जाऊंगा, किसी काम के लिए दूसरे आदमी को भेज दे विदेश तो ऐसा यह ब्रती नहीं कर सकता है, क्योंकि दिग्ब्रत का प्रयोजन तो लोभ कषाय का विनाश करना है। लोभवश ही तो वह दूसरे को भेजता है। तो जो दिशाओं की मर्यादा की उससे बाहर न तो किसी को भेजेगा, न वहाँ से कोई चीज मंगायगा, न पत्र व्यवहार करेगा, न किसी समय ऐसा सोचकर कि चलो पूर्व दिशा में मर्यादा कम कर ले, पश्चिम दिशा में मर्यादा बढ़ा लें, क्षेत्र उतना का ही उतना रहेगा, ऐसा सोचकर किसी दिशा की मर्यादा बढ़ा लेना यह ब्रती श्रावक न करेगा। यह तो कभी-कभी दिग्ब्रत के अन्दर भी कुछ दिन की मर्यादा लेकर सीमित क्षेत्रों में ही आना जाना रखेगा। इसकी वृष्टि तो और कम क्षेत्रों में अपने आपकी वृत्ति रखना है। वह मर्यादा से बाहर क्षेत्र बढ़ाये यह तो कभी सोच ही न सकेगा। तो इस प्रकार दिग्ब्रत में जो मर्यादा की है उसे कभी भूलेगा नहीं। उससे बाहर जाने की इच्छा करेगा नहीं, और कितना ही प्रयोजन हो, उससे आगे जायगा नहीं। हां कोई धर्म कार्य हो, तीर्थ यात्रा आदिक हो, विशुद्ध धर्म कार्य जहाँ अन्य कषाय का कोई विचार स्थान रंच नहीं है, कभी बाहर ऐसा जाना पड़े तो यात्रा कर सकेगा। जब ऐसा सोच ले कि अमुक तीर्थ इतनी दूर है तो भला यह हैं कि वहाँ तक ही दिग्ब्रत की मर्यादा रख ले ताकि किए हुए ब्रत में कभी भी किसी प्रकार की कोई त्रुटि न आ सके।

(७) अनर्थदण्ड विरति नामक द्वितीय गुणव्रत और उसके प्रकार—ब्रती श्रावक के अनर्थ दण्डब्रत की अब चर्चा की जा रही है। अनर्थ दण्ड का अर्थ है—जो कार्य कुछ भी प्रयोजन को सिद्ध नहीं करता और नित्य पाप को ही करता है वह सब अनर्थ कहलाता है और दण्ड भी है, अर्थात् बिना प्रयोजन पाप को अनर्थ दण्ड कहते है। इन अनर्थ दण्डों का त्याग करना अनर्थ दण्ड ब्रत कहलाता है, ऐसे अनर्थ दण्ड ५ हुआ करते हैं। जिन अनर्थ दण्डों में कोई इष्ट धन धान्य का लाभ हो या अनिष्ट शत्रु आदिक का नाश हो ऐसा कोई भी कार्य सिद्ध नहीं है और उसके संकल्प में, संस्कार में निरन्तर पाप का बंध होता है। ऐसे अनर्थ दण्ड ५ है, और ५ ही

नहीं, अनेक हैं। उन अनर्थ दण्डों को जुदे रूप में ५ कह दिया है, किन्तु हैं अनेक प्रकार के, और उन सब में अनेक प्रकार के अनर्थ हैं, ऐसे अनर्थ ५ तरह के हैं। अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसादान और दुःश्रुति। इनके त्याग को अनर्थदण्ड विरति कहते हैं, सो ये विरति भी पांच प्रकार के हैं।

**(क) अपध्यान अनर्थदण्डविरति—**अपध्यान का अर्थ है कि दूसरे के दोषों को ही ग्रहण करना, दूसरे के धन सम्पत्ति आदिक की चाह रखना, पर स्त्री का अवलोकन करना, दूसरे के झगड़े को देखना, ऐसा कार्य करने में जो ध्यान बिगड़ता है वह अपध्यान नामक अनर्थदण्ड है। दूसरे पुरुषों के दोष ही दोष देखना और उन दोषों को चर्चा करने में दिल बहलाना ऐसी क्रिया करने से इस करने वाले का कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता? न आजीविका में सहयोग मिले, न धर्म में। दूसरे की लक्ष्मी को, धन सम्पदा को, निरख निरखकर चाह करना, ईर्ष्या करना, बुरा चिन्तन करना, इस विचार में इस जीव को कौनसा प्रयोजन सिद्ध हुआ? कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं है। तो यह अनर्थ दण्ड है, परस्ती को देखना, इसमें कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता? व्यर्थ दूसरे का लगाव रखा, लौकिक दृष्टि से भी परस्ती उसकी बन न जायगी, उस पर कुछ अधिकार नहीं है और न कभी कोई उसका लाभ होगा, अथवा कदाचित् छिपे-छिपे लाभ भी हो जायते आत्मा को उससे कौनसा लाभ होता? उल्टा पाप का बंध है, तो यह ऐसा कार्य है कि जिसमें अनर्थ बहुत है। दूसरे झगड़ रहे हैं तो उनका झगड़ा देखने में बड़ा दिल लगता है, और कभी उनका झगड़ा शान्तसा होता दिखाई दे तो यह खेदसा मानने लगता कि अब हमारा देखने का मजा मिट रहा है, तो दूसरे के झगड़े को देखना यह अपध्यान है। दूसरे का बुरा चिन्तन करना, विनाश का या बरबादी का भाव रखना यह सब अपध्यान अनर्थदण्ड है। इन अनर्थदण्डों को व्रती श्रावक के त्याग रहता है। अपध्यान के त्याग को अपध्यान विरति नामक अनर्थदण्ड विरति कहते हैं।

**(ख) पापोपदेशविरति नामक अनर्थदण्डविरति—**दूसरा अनर्थदण्ड है पापोपदेश। जो कृषि, पशु पालन, वाणिज्य आदि का उपदेश किया जाता अथवा किसी पुरुष स्त्री के संयोग विषयक उपदेश किया जाता है वह पापोपदेश नाम का अनर्थदण्ड है। दूसरे को खेत जोतने का उपदेश करना अथवा बताना कि यह इस तरह जोता जाता है, इस तरह पानी निकाला जाता है, यों जंगल में आग लगायी जाती है, तृण घास आदिक इस तरह उखाड़े, जाते हैं आदिक आरम्भ का उपाय बताना यह आरम्भ विषयक उपदेश वाला पापोपदेश है। पशुओं के बोलने अथवा पशु विषयक वार्ता करना इन उपायों से गाय, भैस, घोड़ा, हाथी, ऊँट, गधा आदिक पाले जाते हैं और उनकी संख्या में वृद्धि की जाती है आदिक कथन करना यह सब पापोपदेश है। वाणिज्य विषयक वार्ता करना, खरीदने बेचने की वार्ता बताना इस देश से गाय, भैस, बैल, ऊँट, हाथी आदिक लाये जायें और इस अन्य देश में बेचे जायें तो बड़ा लाभ होता है। इस तरह पशुओं के व्यापार का उपदेश करना पापोपदेश है। पहले समय में नौकर बेचे जाते थे, जो जिनके नौकर हैं बस वे वहीं रहेंगे, दूसरी जगह न रहेंगे। यदि एक दूसरे की बेच देवे तो वह नौकर दूसरी जगह रहने लगेगा। जैसे गाय, भैस जिसके हैं उसके ही घर रहेंगे। यदि दूसरे को बेच दें तो फिर उस दूसरे के घर रहेंगे। तो ऐसे तिर्यक्षों का या नौकरों का व्यवसाय बताना, इस देश से लाये, इस देश में बेचे तो इसमें लाभ होता है, ऐसा वाणिज्य का उपाय बताना अनर्थ दण्ड है।

ऐसे अनेक प्रकार के उपदेश सब पापोपदेश कहलाते हैं। अथवा जाल बनाने की तरकीब बताना जिस जाल में मछली, चिड़िया आदिक फांसकर मारी जाती हैं। पापकार्य से जो आजीविका करने वाले लोग हैं उनको उपदेश करना कि इस प्रदेश में हिरण, सूकर, तीतर, मछली आदिक बहुत है तो यह बधिकों के लिए उपदेश किया यह भी अनर्थदण्ड है। पुरुष और स्त्री के संयोग विषयक, विवाह विषयक, उनके भोग विषयक उपदेश करना यह पापोपदेश नामक अनर्थ दण्ड है। इन सब अनर्थ दण्डों का परिहार करना अनर्थदण्ड स्थान कहलाता है। मनुष्य को इतनी साधना तो रखना ही चाहिए कि जिनसे अपना कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता है, ऐसे व्यर्थ के कार्य न करना, यह भी एक तपश्चरण जैसा ही रहेगा। तो व्रती श्रावक पापोपदेश नामक अनर्थ दण्ड का त्यागी रहता है।

(ग, घ, ङ) प्रमादचर्याविरति, हिंसादानविरति एवं दुःश्रुति नामक अनर्थदण्डविरति—तीसरा अनर्थदण्ड है प्रमादचर्या। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के व्यापार में निष्प्रयोजन प्रमाद करना, बिना प्रयोजन वनस्पति को काटना आदिक प्रमादचर्या अनर्थ दण्ड कहलाता है। अपने घर में कुत्ता, बिल्ली, तोता, मैना वगैरह पालना यह भी अनर्थ दण्ड है, क्योंकि ऐसे जीवों के पालने से खुद का कुछ प्रयोजन नहीं, दूसरे वे हिंसक जीव हैं। उनको हिंसा में इसने सुविधा दी, यह सब अनर्थ दण्ड है। कोई प्रयोजन नहीं, भूमि खोद रहे हैं, पत्थरों को चूरा किया जा रहा है, बिना प्रयोजन जल बिखेरा जा रहा है। अग्नि और वायु का व्यापार करना आदिक कार्य प्रमादचर्या कहलाते हैं। ऐसे अनर्थ दण्डों का त्याग करना अनर्थ दण्डवत है। हिंसादान नामक अनर्थदण्ड जैसे बिलाव, कुत्ते आदिक को रखना, शास्त्र, लोहा आदि का विक्रय करना लाख, खल आदिक का ग्रहण करना ये सब अनर्थ दण्ड हैं, क्योंकि बिलाव आदिक हिंसक जंतुओं के पालन करने से उनके द्वारा हिंसा बनती। सो पालन करने वाला हिंसा का समर्थक कहलाता है। लोहा आदिक शास्त्र, लाख, विष वगैरह इनको देना, इनका ग्रहण करना ये सब अनर्थदण्ड कहलाते हैं। घातक जीवों को पालने से उनकी प्रकृति घात करने की जो बनी है उसका प्रयोग करते हैं, अनेक जीवों की हिंसा करते हैं। तलवार आदिक दूसरे को देना, लाख, अफीम, चरस, गांजा आदि का व्यापार करना यह सब अनर्थ दण्ड कहलाता है। इनका त्याग व्रती श्रावक के होता है। पांचवां अनर्थ दण्ड है दुःश्रुति। पुस्तकों में गंदी बातें लिखी हैं, वशीकरण, काम भोग वगैरह का वर्णन है उनका सुनना और दूसरे के दोष की चर्चा वार्ता सुनना यह दुश्रुति नाम का अनर्थ दण्ड है। दुःख का अर्थ है बुरी बात, श्रुत का अर्थ है सुनना। विषय कषाय वर्द्धक रागमोह बढ़ावनहार वार्ताओं को सुनना दुःश्रुति अनर्थदण्ड है। जिन शास्त्रों में मिथ्यात्व की चर्चा हो, काम भोग का वर्णन हो, स्त्री पुरुष विषयक वार्ताओं का वर्णन हो या उनका नग्न चित्रण हो, जिनके देखने सुनने से मन में विकार पैदा होता है वे सब अनर्थ दण्ड कहलाते हैं। और सिनेमा देखना, गंदे-गंदे गायन सुनना ये सब भी अनर्थदण्ड कहलाते हैं। इनका त्याग व्रती श्रावक के रहता है। इस प्रकार अनर्थदण्डों का त्याग होना दूसरा गुणव्रत है, जिसका नाम है अनर्थ दण्ड व्रत।

(७) भोगोपभोग परिमाणव्रत नामक तृतीय गुणव्रत—अब भोगोपभोग परिमाण नाम का गुणव्रत कहते हैं। भोजनपान वस्त्रादिक का परिमाण करना, उससे अधिक इनका सेवन न करना सो भोगोपभोग परिमाण है।

इनका परिमाण अपनी शक्ति के अनुसार मनुष्य रखते हैं, भोजन आदिक के मर्यादा की संख्या रखते हैं, आज इतनी बार भोजन करूँगा आदिक । तो उनका परिमाण बनाना सो भोगेपभोग नाम का गुणब्रत है । यहाँ भोग और उपभोग दो शब्द दिए गए हैं जिसमें भोग का अर्थ है वह वस्तु जिसका एक बार सेवन किया जायते फिर आगे सेवन के योग्य न रहे । जैसे जो भोजन खाया है वह पुनः खाने लायक नहीं रहता । जो इष्ट तेल लगाया है शरीर में वह यदि कुछ अधिक भी हो तो उस सबको पोंछ कर कोई नहीं लगाता । तो जो बारबार भोगने में आयेंगे उपभोग कहलाते हैं जैसे वस्त्र आदिक उनका परिमाण करना यह तीसरा गुण ब्रत हुआ ।

(८) सामायिकनामक प्रथम शिक्षाब्रत व सामायिक योग्य स्थान व आसन—अब शिक्षाब्रत में सामायिक नाम के प्रथम शिक्षाब्रत का स्वरूप कहते हैं । सामायिक कहते हैं समता परिणाम रखने को । गृहस्थ निरन्तर समतापरिणाम नहीं रख सकता । अथवा समता परिणाम रखना कठिन हो रहा । कभी कुछ हो पाता है तो समता का अभ्यास करने के लिए क्षेत्र काल आसन आदिक बातों को सही समझें कि किस क्षेत्र में बैठकर सामायिक करना, किस आसन से सामायिक करना, किस समय में सामायिक करना । कैसे मन, वचन, काय को शुद्ध रखना आदिक बातें जानकर अपने मन, वचन, काय की शुद्धि करनासो सामायिक नाम का शिक्षा ब्रत है । कैसा स्थान होना चाहिए जहाँ सामायिक की शुद्धि हो? तो इतना तो स्थूल निर्णय है कि कुछ एकान्त स्थान होना चाहिए, जहाँ वार्तालाप हो रहा हो, स्वयं भी कुछ संकेत से कर दे ऐसे स्थान पर सामायिक शुद्ध नहीं होती है । कर्कश शब्द न होना चाहिए, वह स्थान सामायिक के लिए प्रशंसनीय है, बहुत जनों का आवागमन भी जहाँ न हो, वह स्थान सामायिक के योग्य है । जहाँ मच्छर आदिक का प्रकोप न हो वह सामायिक के योग्य स्थान है । ऐसा सामायिक करने वाला पुरुष स्थान का निर्णय रखता है ।

सामायिक के समय—समय में तीन समय सामायिक के बताये गए हैं—सुबह, दोपहर और सायंकाल । इन तीन समयों में उत्कृष्ट यथा ६-६ घड़ी काल बताया गया है सामायिक करने का । सो विनयपूर्वक सामायिक में आदरभाव रखते हुए सामायिक करना चाहिए । जहाँ ६ घड़ी का समय बताया है उसका अर्थ यह है कि सूर्योदय से पहले तीन घड़ी, और सूर्योदय के बाद तीन घड़ी यह समय है सुबह की सामायिक का । इसी प्रकार ठीक दोपहर से तीन घड़ी पहले और ३ घड़ी बाद यह दोपहर के सामायिक का काल है, इसी प्रकार सूर्यास्त से तीन घड़ी पहले और तीन घड़ी बाद का ऐसा ६ घड़ी सामायिक करने का समय है । सामायिक के काल में सामायिक में विनयभाव रखते हुए सामायिक करना ऐसा उत्कृष्ट विनय वाला गणधर देव ने सामायिक का स्वरूप कहा है । विनय का अर्थ है जो विशेष रूप से ले जाय । अपने आपके गुणों में आदर होना, यह वास्तविक विनय है ऐसा विनययुक्त महापुरुषों ने सामायिक का काल बताया है ।

सामायिक में आत्मस्वरूप का चिन्तन—सामायिक के योग्य आसन भी होना चाहिए । वह आसन पर्यङ्क आसन है अथवा कायोत्सर्ग है । ऐसे आसनों में ध्यान धरना । ऐसे आसन को लगाकर सामायिक के काल प्रमाण तक इन्द्रिय व्यापार से जुदा होना चाहिए, क्योंकि धर्म नाम है आरम्भ परिग्रह से रहित जीवन बिताते हुए अपने अविकार ज्ञानस्वभाव से उपादेय बुद्धि रखना । तो भले प्रकार आसन लगाकर समय का

परिमाण करके इन्द्रिय के व्यापार से रहित होकर समता परिणाम का आलम्बन करना। पर्यङ्क आसन मांडकर या कायोत्सर्ग से खड़े होकर इन्द्रिय व्यापार को तजकर जो समता परिणाम रखने का अभ्यास करता है वह अपने ज्ञानस्वभाव को विकास की ओर ही ले जाता है। यह सामायिक शिक्षा व्रत का नियम रखने वाला जिन वचनों में एकाग्रता से श्रद्धालु है। सामायिक में अपने शरीर का सम्वरण रहता है, अपनी ओर झुका हुआ रहता है। सो बारबार अंजुलि करके जो कि श्रद्धा का विशेष गुण है अपने, स्वरूप में लीन होकर आत्यस्वरूप का विचार करे। यह सामायिक शिक्षा व्रती क्षेत्र का परिमाण ले लेता। क्षेत्र परिमाण में अवधि है अपने शरीर प्रमाण की। कदाचित खड़े हुए सामायिक करते में ऐसी निद्रा आये या कुछ बेसुधी हो जाय और कदाचित वह एक निज देह प्रमाण स्थान में ही तो गिरा। तो कभी ऐसी सम्भावना की भी बात हो तो भी अपने देह प्रमाण जगह से आगे व्यापार न करना चाहिए। अर्थात् कोई चेष्टा न करे, ऐसी द्रव्य, क्षेत्र, काल, आसन की मर्यादा रखकर अंतस्तत्त्व का जो ध्यान करते हैं वे पुरुष- सामायिक व्रत को सफलता से प्राप्त करते हैं। सामायिक शिक्षा व्रत में प्रथम बार जमीन पर मस्तक झुकाकर पंचगुरु को प्रणाम किया जाता है। और वंदना करने की मुद्रा में अंजुली को आवर्त से घुमाकर चारों दिशाओं में चार प्रणामों को करता है और मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक आत्मध्यान में लगता है। तो ऐसा प्रतिदिन तीन समय सामायिक करने का संकल्प और यत्न इस व्रती श्रावक के होता है।

**सामायिक का निरुक्तर्थ—**सामायिक शब्द समय से बना है। समय नाम है आत्मा का। समय में जो होवे अर्थात् आत्मा में जो होवे उस भाव को सामायिक कहते हैं अथवा समय में सन् और अय् ये दो शब्द पड़े हैं, जिनका अर्थ है कि भले प्रकार से एक रूप से गमन करना सो समय है याने आत्मा अपने अभेद रूप से परिणमे ऐसी वृत्ति को सामायिक कहते हैं। जहाँ आत्मा की एकरूपता बने अर्थात् रागद्वेष की दुविधता न बने ऐसे भाव को सामायिक कहते हैं। अथवा आत्मा को एक रूप करना जिसका प्रयोजन है वह सामायिक है। इस छंद में सामायिक करने वाला पुरुष जाप भी जपेगा, स्तुति भी करेगा, बारह भावनायें भी भायेगा, कभी आत्मतत्त्व को निरखने का अभ्यास भी रखेगा, पर ये सब अपने आत्मा को अभेदरूप करने के प्रयोजन से हैं। अथवा सामायिक का अर्थ है सर्व प्राणायाम समताभाव रखना। देव वंदना करते समय संक्षेपरहित मन से समस्त प्राणियों में साम्यभाव रखना सामायिक है। सभी प्राणी मेरे स्वरूप के ही समान हैं, ऐसा निरखकर समता भाव रखना, जिससे कि किसी प्राणी के प्रति रागद्वेष की वृत्ति न जगे, उसे सामायिक कहते हैं।

**सामायिक में ज्ञातव्य प्रयोग—**सामायिक करने के लिए कुछ बातें जानना आवश्यक है। जिन ज्ञातव्य बातों में तीन बातों का वर्णन किया। (१) एक तो सामायिक कैसे स्थानपर की जानी चाहिए? इस सम्बंध में बताया गया कि जहाँ कोलाहल के शब्द न हों, लोगों की भीड़भाड़ न ही डांस मच्छर आदिक न हों, ऐसे क्षेत्र में सामायिक करना योग्य है, क्योंकि ऐसे क्षेत्र में चित्त की क्षोभ न हो ऐसी स्थिति बनती है। (२) दूसरी सामायिक किस समय करना चाहिए? सामायिक के तीन काल कहे गए हैं—प्रातः, मध्याह्न और सायं। (३) तीसरी बात बतायी है कि सामायिक के लिए किस प्रकार से बैठना का चाहिए? तो इसके उत्तर में बताया गया है कि जो

आसन ध्यान करने में साधन हों उन आसनों से बैठना । उन आसनों में दो आसन प्रसिद्ध और उपयोगी हैं (१) एक तो पद्मासन और (२) दूसरा कायोत्सर्गासन । इन आसनों में तारीफ यह है कि हाथ या पैर के तल भी अपने शरीर को या अन्य को नहीं छू रहे हैं । चित्त का क्षोभ हाथ के तल अथवा पैर के तल भाग से किसी वस्तु को छूने से होता है । तो यह आसन इसी मुद्रा का है कि तल भाग से किसी का स्पर्श नहीं हो रहा ।

**सामायिक में तन्मय होने के अभिलाषियों का कर्तव्य—**उक्त तीन बातों को बताकर अब चौथी बात यह बतायी जा रही है कि सामायिक में तन्मय कैसे हुआ जाता है? सामायिक करने वाले कल्याणार्थी को प्रथम तो समस्त पापपूर्ण व्यापार का त्याग करना चाहिए । कोई पुरुष अन्याय की आजीविका करे, अनेक लोगों को धोखा देकर सताकर परिग्रह संचय करने की इच्छा रखे और ऐसा ही प्रयोग करे तो उसके चित्त से शल्य नहीं जा सकता । और जब तक निःशल्यता नहीं होती तब तक समता परिणाम नहीं बनता । तो आत्मा में तन्मयता चाहने वाले पुरुष प्रथम तो अन्यायपूर्ण कार्यों को छोड़, फिर किसी एकान्त स्थान में चैत्यालय गुफा, खाली मकान आदिक में सामायिक का, समता परिणाम बर्तने का पौरुष करें, वहाँ क्षेत्र की मर्यादा कर लें कि मैं इतने क्षेत्र में ठहरूँगा, फिर पद्मासन या कायोत्सर्ग आसन बनाये वहाँ काल की मर्यादा कर ले, मैं इतने काल तक सामायिक करूँगा । सामायिक योग्य स्थिति में अपने को रखकर इन्द्रिय व्यापार को रोक दें याने स्पर्शन इन्द्रिय से किसी चीज का स्पर्श न करें, रसना इन्द्रिय से किसी वस्तु का स्वाद न लें, गंध न लें, देखें नहीं, सुनें नहीं और मन को यहाँ वहाँ चलायें नहीं, जिनेन्द्र प्रभु ने जो तत्त्व बताया है उसी तत्त्व के स्वरूप का चिन्तन करें अन्तः सहज अविकार स्वरूप के निरखने में उपयोग लगायें तो ऐसी स्थिति होने में यह मन विकल्प को छोड़ देगा और आत्मस्वरूप में तन्मय होने का अवकाश मिलेगा । ५वां अभ्यास मन को निर्मल रखने का है । जब किसी वस्तु को यह पुरुष इष्ट या अनिष्ट समझता है तब उसके मन में निर्मलता नहीं रह पाती । सो सर्व पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जानकर रागद्वेष से रहित होकर मन को निर्मल बनायें । छठी बात यह कि अपने वचन को निर्मल बनायें, धर्मयुक्त वचन ही निकले और किसी के दिल को कष्ट न पहुंचे ऐसे ही वचन निकलें । कोई काय से चेष्टा संकेत आदिक न करें और अपने स्वरूप में उपयोग जाय इसके लिए काय की स्थिरता बनाये तो ऐसे उपायों से यह आत्मा अपने स्वरूप के दर्शन में तन्मय हो जाता है ।

**(१०) प्रोषधोपवास नामक द्वितीय शिक्षाव्रत का निर्देशन—**अब शिक्षाव्रत में प्रोषधोपवास नामक दूसरे शिक्षा व्रत का स्वरूप कहते हैं । दूसरा शिक्षा व्रत है प्रोषधोपवास । पर्व के दिनों में उपवास करना अथवा एकाशन करना, नीरस आहार लेना और उन समयों में धर्मध्यान की विशेषता करना यह प्रोषधोपवास है । आहार का त्याग किसलिए किया? इसलिए किया कि इन विकल्पों से छूटकर मैं सतत् आत्मस्वरूप की आराधना में रहूँ, तो ऐसे लक्ष्य वाले पुरुष उपवास के दिन स्नान का त्याग रखते हैं । स्नान से क्या प्रयोजन? मुनियों की शिक्षा पाने के लिए प्रोषधोपवास लिया है । उपवास के दिन विलेपन न करें । शरीर में किसी चीज का विलेपन करना यह उपवास में योग्य नहीं है क्योंकि इसमें चित्त को क्षोभ ही रहता है । आभूषण आदिक पहिनना, स्त्री सम्बंध

रखना, गंधकुटी आदिक लेना ये सब राग बढ़ाने वाली घटनायें हैं। प्रोष्ठोपवास का व्रत रखने वाले पुरुष इन सब संस्कारों को छोड़ते हैं, उनका आभूषण वैराग्य ही है। सो ऐसे सात्विक व्रत को दोनों ही पर्वों में यह जीव उपवास करता है। इस ही को प्रोष्ठ नाम का शिक्षा व्रत कहते हैं।

(११) अतिथि संविभाग नामक तृतीय शिक्षाव्रत का निर्देश—अब तीसरा शिक्षा व्रत है अतिथिसम्बिभाग। अतिथि कहते हैं साधु संतजनों को, जिनके जाने-आने रहने की कोई तिथि नहीं है। जब मन हुआ आये मन हुआ चले गए, ऐसे तिथि रहित महापुरुषों को अतिथि कहते हैं। और अतिथियों के लिए जो अपने भोजन आदिक में सम्बिभाग किया जाय और अतिथियों को आहार आदिक वैयावृत्य किया जायतो यह सब अतिथि सम्बिभाग कहलाता है। पात्र तीन प्रकार के होते हैं। उत्तम पात्र है मुनि, मध्यम पात्र है श्रावक और जघन्य पात्र हैं सम्यग्वृष्टि। इन तीन प्रकार के पात्रों को आहार, शास्त्र, औषधि, अभयदान करना सो अतिथि सम्बिभाग है।

**अतिथि संविभागव्रती दातार के सप्तगुण—साधु संतों को आहार कराने वाले श्रावक श्रद्धा आदिक ७ गुणों से युक्त होते हैं।** मैं बड़ा पुण्यवान हूँ। आज मैंने एक वीतराग पात्र पाया है, अर्थात् जिसके रागद्वेष विशेष नहीं हैं, व्यक्त नहीं हैं, ऐसे पात्र को पाया है, ऐसा निरखकर अपने अंतरंग में उमंग और श्रद्धा रखना यह श्रावक का प्रथम गुण है। दूसरा गुण है पात्र के समीप बैठकर उनकी भक्ति करना। तन, मन, धन, वचन से उनकी आवश्यक सेवाओं में रहना। दातार में तीसरा गुण है निर्लोभता। इस श्रावक के मन में किसी भी वस्तु का लोभ नहीं है। इस वस्तु से मेरा काम है इसलिए यह न दूँ और यह मुझे आवश्यक विशेष नहीं है इसे दूँ। इस प्रकार का भाव दातार श्रावक में नहीं होता। श्रावक का चौथा गुण है दया। घर में चौंटी वगैरह देखकर सावधानी से काम करता है ऐसा दातार दयालु है। चौथा गुण है शक्ति। पात्र की सेवा में कितना ही धन व्यय हो, उसमें असमर्थता न जाहिर करना, कायर न बनना यह उसका शक्ति नामक गुण है। छठवां गुण है क्षमा। स्त्री पुत्र वगैरह कितने ही अपराध करले फिर भी दान के समय उन पर कुछ न होना यह दातार का क्षमा गुण है। ७वां गुण है ज्ञान। यह पात्र योग्य है, यह योग्य नहीं है इस प्रकार का विवेक और ज्ञान श्रावक के रहता है। सो ऐसे ७ गुणों से सहित श्रावक श्रेष्ठ दाता कहलाता है। सो यह दाता योग्य पात्र को भक्ति पूर्वक आहारदान, अभय दान औषधि दान और शास्त्रदान करता है। अतिथि सम्बिभाग व्रतधारी साधुजनों के आहार कराने की सर्व विधि जानता है।

**दान की नव विधियां—साधुसंतों को आहार कराने वाले श्रावक के द्वारा दान की ९ विधियां होती हैं।** प्रथम है प्रतिग्रह। भक्ति पूर्वक सद्वचन बोलते हुए साधु को बुलाना इस प्रतिग्रह में यह श्रावक अपने घर के द्वार पर पात्र को देखकर या कुछ अन्य जगह खोजकर भक्ति पूर्वक लाकर नमोस्तु-नमोस्तु तिष्ठ-तिष्ठ कहकर उनका प्रतिग्रह करता है, फिर दूसरी विधि में वह अपने घर ले जाकर ऊचे आसन पर बैठता है। तीसरी विधि में साधु के पैर धोता है, चौथी विधि में अक्षत, फल, नैवेद्य आदिक से पात्र की पूजा करता है। फिर चरणों के समीप झुककर नमस्कार करता है। श्रावक के मन की शुद्धि, वचन की शुद्धि और काय की शुद्धि रहती है।

सब ओर से अपनी काय कषाय को संकोच कर यह श्रावक शुद्धि पूर्वक साधु संतों को आहार देता है । ऐसे दाता के ७ गुण होते हैं । जिनके कारण यह पुण्य उपार्जन करने वाली विधियों सहित चार प्रकार का पात्र को दान देता है ।

**दान का महत्व**—अब आहार आदिक दान की महिमा बतलाते हैं । दान चार प्रकार का होता है । (१) आहारदान (२) औषधिदान (३) ज्ञानदान और (४) अभयदान । जब जिस दान की वृत्ति में चले तब उसकी महिमा दिखती है । आहारदान करने पर तीन दान हो ही जाते हैं । जिस साधु को आहार दिया तो उसमें इतनी सामर्थ्य तो आयी कि वह स्वाध्याय आदिक कर्मों को निर्विघ्न करे । वह आहार भी एक औषधि है, क्षुधा एक तीव्र रोग है, उस रोग की शान्ति हुई तो यह औषधिदान भी बन गया । और आहार आदिक देने से मुनि को अभय की प्राप्ति हुई । वह भयरहित होकर धर्मसाधना में लगता है । औषधिदान देने से रोग शान्त हो जाया करते हैं, उससे संत जनों की आत्मस्वरूप की सिद्धि में उमंग रहती है । अभयदान करने से जब साधक को भय न रहा तो अपने आप में अपने उपयोग को जोड़ना सरल हो जाता है । शास्त्रदान की तो बड़ी ही महिमा है । ज्ञान और शास्त्र से जो अपना लगाव रखता है वह कभी केवल ज्ञान को पाले, ऐसा बीच में विकास बना हुआ है । शास्त्रदान का फल है केवल ज्ञानलाभ व निर्वाण लाभ । ऐसा यह श्रावक सद्गुण भावना सहित चार दानों में अपना प्रवर्तन करता है । उसे न इस लोक में कोई इच्छा है दान देकर, न परलोक में कोई इच्छा है । यह श्रावक तो भक्ति से रत्नत्रयधारियों का वैयावृत्य करता है । जो पुरुष इहलोक और परलोक की इच्छा न रखता हुआ भक्तिपूर्वक दान करता है वह श्रावक मानों समस्त संघ को रत्नत्रय धारण में स्थापित करता है । भक्तिपूर्वक किसी भी दिन अल्प दिया हुआ दान इन्द्रादिक पदों को प्राप्त कराता हुआ परम्परया आत्मा को आत्मा में मग्न कराकर निर्वाण को प्राप्त कराता है, इस प्रकार पात्र विशेषों की वैयावृत्ति करना यह तीसरा शिक्षाव्रत है ।

**(१२) चतुर्थ शिक्षाव्रत**—अब चतुर्थ शिक्षाव्रत का स्वरूप कहते हैं । चौथे शिक्षाव्रत का नाम है किसी ग्रन्थ में सल्लेखना और किसी ग्रन्थ में देशब्रत । जो सातों दिशाओं की मर्यादा की हुई थी उसमें से कुछ अवधि लेकर कम मर्यादा करना, उससे बाहर न आना-जाना यह देशब्रत है । और सल्लेखना को चौथा शिक्षाव्रत कहते हैं । तो सल्लेखना के अभ्यास में पहले से ही काय और कषाय का सल्लेखना भाव रहता है । अथवा जीव के आवीचिमरण तो सतत चलता रहता है । सो प्रति समय में अपनी सावधानी रखना, विषय कषाय की इच्छा न जगे ऐसी सल्लेखना प्रतिदिन निभती रहती है । तो कहीं सल्लेखना बताया, कहीं १ २वें ब्रत में देशब्रत बताया । और सल्लेखना तो अन्त समय में विशेषतया की ही जायगी । यह देशावकाशिक ब्रत वाले इन्द्रिय के विषयों के भोगों का परिमाण घटाता है । जब यह विषयों से विरक्त होगा, मन के विषय से भी विरक्त होगा तब ही यह देशावकाशिक ब्रत में बढ़ सकता है । किसी-किसी ग्रन्थ में कहीं-कहीं शिक्षा ब्रत का अन्तिम भेद सल्लेखना कहा है । जहाँ सल्लेखना नहीं कहा बारह ब्रतों में वहाँ बारह ब्रत पालन करने वाले को अन्त में सल्लेखना का उपदेश किया है । सल्लेखना मरणकाल आने पर की जाती है । सल्लेखना का अर्थ है सल्लेखना, भले प्रकार

से क्षीण करना । शरीर और कषायों को क्षीण करने को सल्लेखना कहते हैं । शरीर को क्षीण करना बाह्य सल्लेखना है और कषाय को क्षीण करना यह अन्तरंग सल्लेखना है । यह ब्रती जब किसी कठिन उपर्युक्त वृद्धता रोग के आने पर मरणकाल निश्चित समझ लेता है तब यह आहारादि का त्याग कर बाह्य सल्लेखना करता है । अन्तरङ्ग सल्लेखना तो जीवनकाल में भी करना कर्तव्य है और वैसे आवीचिमरण तो प्रतिसमय हो रहा है । जो आयु निकली वह फिर वापिस नहीं आती । इसी प्रकार प्रत्येक समय आयु का क्षय हो रहा है, सो प्रति समय कषाय का सल्लेखन करना आवश्यक है । सल्लेखना ब्रतधारी सर्व जीवों को क्षमा करता है, जो किसी का कुछ हर लियाहो वह उसको वापिस करता है । धर्म ध्यान में अपना उपयोग लगाता है और ऐसा समाधिपूर्वक मरण करके यह जीव स्वर्गादिक उत्तम स्थानों में उत्पन्न होता है ।

## श्लोक 139

चतुरावर्त्तन्त्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः ।  
सामायिको द्विनिषद्यस्तियोगशुद्धस्तिसन्ध्यमभिवन्दी ॥१३९॥

**अर्थ—**जो चारों दिशाओं में क्रमशः तीन-तीन आवर्त और चार प्रणाम, दो आसन करने वाला यथा जात मुनि की तरह स्थित तीनों योगों से शुद्ध व तीनों कालों में बन्दना करता है वह सामायिक नामक तृतीय प्रतिमाधारी है ।

सामायिक प्रतिमा व सामायिक की विधि—देश संयत गुणस्थान में तीसरा दर्जा अर्थात् प्रतिमा सामायिक प्रतिमा है । श्रावक सामायिक की विधि के अनुसार सामायिक करता है । सामायिक की विधि यह है कि पहले पूर्वदिशा की ओर मुख करके खड़े होकर ९ बार णमोकार मंत्र पढ़े, पश्चात् ३ आवर्त करके अर्थात् दोनों हाथों को जोड़कर तीन बार परिक्रमासी देकर यह उच्चारण करे मन में कि ऊपर और नीचे जो चैत्यालय विराजमान हैं, जीव अजीव मंगल हैं उनको हमारा मन, वचन, काय से नमस्कार हो । ऐसे घुटने टेक कर पंचांग से नमस्कार करता हुआ कहे । फिर खड़े होकर उसी दिशा में ९ बार णमोकार मंत्र पढ़कर आवर्त करता हुआ ऐसा कह कर नमस्कार करे कि पूर्व दिशा में जितने चैत्यचैत्यालय हैं, जीव और अजीव मंगल हों, गुरुराज आदिक विराजमान हों, उन सबको मन, वचन, काय से नमस्कार हो । फिर दक्षिण की ओर मुख करके ९ बार णमोकार मंत्र पढ़कर आवर्त करता हुआ “दक्षिण दिशा में विराजमान समस्त जीव अजीव मंगलों को नमस्कार हो । ऐसा उच्चारण करता हुआ नमस्कार करे, फिर पश्चिम दिशा की ओर मुख करके खड़े होकर ९ बार णमोकार मंत्र पढ़कर पश्चिम दिशा में जितने जीव अजीव मंगल हैं उन सबको नमस्कार हो, ऐसा कहकर तीन आवर्त करता हुआ नमस्कार करे, फिर इसी तरह उत्तर दिशा की ओर खड़े होकर ९ बार णमोकार मंत्र पढ़कर उत्तर दिशा में जीव अजीव मंगलों को नमस्कार हो, ऐसा कहते हुए तीन आवर्त कर के नमस्कार करे । फिर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके बैठ जाय आसन से अथवा खड़ा रहे, अब किसी मंत्र का जाप करे, बारह भावना आदि का मन में पाठ करे, वस्तुस्वरूप का विचार करे, बंदना स्तुति भी करे और कुछ समय सर्व

विकल्पों को छोड़कर ज्ञाताद्रष्टा रहने का पौरुष करे । सामायिक की क्रिया व काल पूरा होने पर फिर पंच नमस्कार मंत्र पढ़कर नमस्कार करता हुआ विसर्जन करे । सामायिक की इस विधि में चारों दिशाओं में तीन-तीन आवर्त हैं, चार प्रणाम है और एक प्रारम्भ का संकल्प प्रणाम है । सामायिक में यह श्रावक बालकवत् निर्विकार सरल आत्महित का चिन्तन करता हुआ रहे । मन, वचन, काय को सिद्ध करे, ऐसी सामायिक प्रातः, मध्याह्न और सायंकालजो करता हैं वह श्रावक सामायिक प्रतिमा का धारक कहलाता है ।

**सामायिक में मुख्य ध्यातव्य तत्त्व—**सामायिक में मुख्य ध्यान परमात्मा का और सहजात्मा का होता है । जो वीतराग सर्वज्ञ हुआ है वह आत्मा परमात्मा कहलाता है । जब तक शरीर सहित है तब तक वह अरहंत है, जब शरीर रहित हो जाता है तो वह सिद्ध भगवन्त होता है । सो अरहंत और सिद्ध के आत्मा के स्वरूप का ध्यान धरे तथा आत्मा के सहज स्वरूप का ध्यान रखे ये दो ध्यान सामायिक में मुख्य हैं । जाप जपने के लिए अनेक प्रकार के मंत्र हैं । “ॐ” इतने एक अक्षर से भी जाप कर सकेंगे, सिद्ध इस प्रकार दो अक्षरों के पद का भी ध्यान धर सकेगा, अरहंत ऐसा जपकर चार अक्षर के मंत्र से भी अपना ध्यान धरा जा सकता है, ऐसे ही ५-६-१६-३५ आदि अक्षरों युक्त मंत्रों को यह भक्ति पूर्वक जपता है । इन सब जापों में निर्दोष आत्मा का ध्यान है । सामायिक में ऐसी वैराग्य भावना से वासित होना चाहिए कि इस समय उपसर्ग उपद्रव भी आये तो मन विचलित न करे । उस समय कर्मों के उदय का विचार करें । कर्म दो प्रकार के होते हैं—पुण्य और पाप । तो पुण्य के फल तो सुहावने रहते हैं, जिनके लिए दृष्टान्त दिए गए हैं गुड़, खांड, शक्कर और अमृत । पाप प्रकृतियों को उसका फल बुरा है, सो जितने भी दुःख होते हैं वे सब पाप के उदय में होते हैं । संसार के सुख यद्यपि पुण्य के उदय में होते हैं फिर भी उस पुण्य से क्या गुजारा चलेगा जो मिट जाने वाले हैं और फिर संसार में जन्ममरण कराने वाले हैं । पाप पुण्य दोनों से रहित जो आत्मा का सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप वृत्ति है वही आत्म कल्याण करने में समर्थ है । सामायिक में इतना समता भाव होना चाहिए कि लाभ अलाभ, शत्रु मित्र, संयोग वियोग, तृण कांचन ये एक समान उसकी दृष्टि में रहें । अब श्रावक की चौथी प्रतिमा प्रोषध है, उस प्रोषध प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं । प्रोषध ब्रत द्वितीय प्रतिमा में भी कहा था वही प्रोषध इस प्रतिमा में निरतिचार पाला जाता है—

## श्लोक 140

पर्वदिनेषु चतुर्ष्पि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य ।

प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः ॥१४०॥

**अर्थ—**जो मास के चारों पर्व दिनों में अपनी शक्ति को न छिपाकर, शुभ ध्यान में रत हुआ एकाग्रता के साथ नियम से प्रोषधोपवास करता है वह प्रोषधोपवास नाम का प्रतिमाधारी श्रावक है ।

अष्टमी चतुर्दशी पर्व की शाश्वतता—इस छंद में समन्तभद्राचार्य ने प्रोषधोपवास प्रतिमा का स्वरूप कहा है । माह में पर्व के चार दिन आते हैं प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी में । रवि ब्रत आदिक जो भी ब्रत के पर्व बताये

गए हैं वे किसी कारण किसी दिन से किसी ने प्रारम्भ कराये । वे पर्व अनादिनिधन नहीं हैं, किन्तु अष्टाहिका और अष्टमी चतुर्दशी ये पर्व अनादि अनन्त हैं । इन दो के सिवाय शेष सभी पर्व किसी कारण से बने हैं । रक्षा बंधन, दीपावली और तीर्थकरों के कल्याणक आदिक पर्व घटना के कारण हैं जिससे कि बने हैं । अष्टाहिका पर्व अनादि निधन इस कारण हैं कि ८वें द्वीप में चारों दिशाओं में १३-१३ जिन मंदिर हैं, जिनकी रचना पूजा पाठों में भी बतायी जाती है । वहाँ भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक, चारों प्रकार के देव कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ के अन्तिम ८ दिनों में पूजा करने जाते हैं, वंदना करते हैं और चौबीसों घंटे वंदना होती रहती है । वहाँ रात दिन का भेद है नहीं, और प्रायः ६-६ घंटे एक-एक निकाय के देव वहाँ वंदन पूजन किया करते हैं । तो अष्टाहिका पर्व यह अनादि से ही चला आया है, अनादि से ही देव होते आये हैं और वे वहाँ जाकर पूजन वंदन किया करते हैं । किन्तु मनुष्यों की शक्ति नहीं है कि वे उस द्वीप में जाकर पूजन वंदन कर सकें । सो मनुष्य यहीं अपने ही मंदिरों में वहाँ की स्थापना करके, स्मरण कर पूजन किया करते हैं । अष्टमी चतुर्दशी पर्व भी अनादि निधन हैं, क्योंकि प्रतिमाओं में इसी दिन प्रोषधोपवास की विधि बतायी गई है । तो यों एक माह में चार-चार पर्व के दिन आते हैं, सो उन दिनों में अपनी शक्ति न छिपाकर प्रोषध का नियम पालन जो करता है वह प्रोषधोपवास प्रतिमा का धारी है ।

**शक्त्यनुसार पालन होने से प्रोषधोपवास के तीन प्रकार—प्रोषधोपवास के तीन प्रकार हैं—**(१) उत्तम (२) मध्यम और (३) जघन्य । उत्तम प्रोषधोपवास में यह श्रावक सप्तमी और त्रयोदशी के दिन दोपहर के समय अर्थात् आहारोपरान्त जिनमंदिर में जाकर सामायिक आदिक क्रियायें करके चारों प्रकार के आहारों का त्याग कर उपवास ग्रहण करता है, यह त्याग रहेगा नवमी और पूर्णिमा के दोपहर के आरम्भ तक । इतने समय तक घर का धंधा काम काज आरम्भ छोड़कर धर्मध्यान ही करता है रात और दिन । तो प्रोषध प्रतिमाधारी धर्मध्यान पूर्वक रात बिताकर प्रातः काल उठकर सामायिक आदिक क्रियाकर्म करता है । शास्त्र स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा पूर्वक दिन व्यतीत करता है, इसी तरह रात भी व्यतीत करता है औंर नवमी व पूर्णमासी के सुबह पूजन विधान करके पात्र को पड़गाह कर किसी त्यागी व्रती साधुसंत को जो मिल सकें उन्हें आहार कराकर फिर आहार करता है तो यह उत्कृष्ट प्रोषध प्रतिमा के पालन का विधान है । जिसमें इतनी सामर्थ्य नहीं है वह अष्टमी और चतुर्दशी को प्रासुक जल भी ले लेता है । और जो अधिक असमर्थ हो वह अष्टमी चतुर्दशी को कुछ रस छोड़कर एकाशन करता है पर इस प्रतिमा में करीब ४८ घंटे धर्म ध्यानपूर्वक रहने का कर्तव्य बताया गया है ।

**प्रोषधपालन में मुनिव्रत पालन का अभ्यास—प्रोषध करना कर्तव्य इसलिए बताया कि रोज जो धर्मध्यान करते रहते हैं उस धर्मध्यान में कुछ विशेषता आनी चाहिए । सो प्रति सप्ताह अष्टमी चतुर्दशी पर्व के निकट धर्मध्यान को बढ़ाता है और मुनियों के व्रतों को पालने की शिक्षा लेता । इसमें मुनिव्रत पालने की शिक्षा दो प्रकार से मिलती है । प्रथम तो प्रोषध प्रतिमाधारी तीनों दिन सप्तमी, अष्टमी, नवमी तथा तेरस, चतुर्दशी, पूर्णिमा, ऐसे तीन दिन शाम को जल नहीं लेता, एक बार ही जलपान करता । तो मुनि भी ऐसा ही किया करते हैं, तो एक शिक्षा तो यह मिलती है, दूसरी शिक्षा धर्मध्यान और समता परिणाम अधिक समय तक**

रखे, यह मिलती है। आत्मस्वरूप की धुन रखने वाला ब्रती श्रावक उमंग पूर्वक सप्ताह में इन पर्व के दिनों में अपना धर्मध्यान बढ़ाता है। इस प्रोष्ठ के फल में बहुत भवों के संचित कर्मभी लीला मात्र में नष्ट हो जाते हैं। प्रोष्ठ प्रतिमाधारी प्रोष्ठ के समय में आरम्भ से विरक्त रहता है। जो पुरुष उपवास तो धारण करले परन्तु मोहवश आरम्भ को करे तो उसका वह उपवास केवल शरीर के सोखने के लिए ही है, उससे लेशमात्र कर्म नहीं झटकते। प्रोष्ठ में प्र उपसर्ग है और औषध शब्द लगा है। संधि होने पर गुणरूप आदेश होता है। इस प्रोष्ठ का अर्थ है प्रकृष्ट औषध याने औषधि के समान अल्प आहार करना। आहार औषधि को विशेष समझता हुआ आहार करे। यह श्रावक इन्द्रिय विषयों से तो विरक्त रहता ही है, पर कर्मविपाकवश मुनिजनों की भाँति उनका त्याग नहीं कर पाता। तो वह पर्व के दिनों में प्रकृष्ट औषधि की तरह आहार लेता हुआ इन समयों में विशेष धर्मध्यान करता है।

**परमार्थ धर्मध्यान—धर्मध्यान में उत्कृष्ट धर्मध्यान है** यह कि निज सहज ज्ञानस्वरूप में आत्मतत्त्व का अनुभव करे। जो जीव अपने सहज स्वरूप में आत्मस्वरूप का अनुभव कर लेता है उसको जगत में फिर कोई कष्ट नहीं रहता। समस्त परद्रव्यों को जब जान लिया तो उन अन्य पदार्थों का परिणमन कैसा ही हो, उसमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि अथवा रागद्वेष नहीं जगता है। जीव अकेला ही है, कर्मवश होकर चारों गतियों में भ्रमण करता रहता है उन समस्त योनियों में एक यह मनुष्यभव ही उत्कृष्ट भव है कि जहाँ संयम का धारण हो सकता है। इसी भव में एक अपने मौज की लालसा से संयम से अलग रहे और भीतरी संयम से भी च्युत रहे। अटपट प्रवृत्तियां रहें तो इस मनुष्य जीवन के पा लेने से फिर कोई लाभ नहीं रहता। इस कारण इस मनुष्यभव को एक बड़ा जिम्मेदारी का भव समझना चाहिए। किसी भी प्राणी के सम्बंध में मेरा दुर्विचार न जागे। मुझ से जितना हो सके, दूसरे प्राणियों का उपकार भलाई तो हो पर मेरी किसी भी चेष्टा के कारण दूसरे को कष्ट न पहुंचे। ऐसा शान्त परिणाम रहता है श्रावक का और सतत प्रतीति रहती है अमूर्त ज्ञानमात्र निजतत्त्व की। मैं रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित हूँ, अतएव बाह्य पुद्गल की भाँति मैं पकड़ में नहीं आता हूँ। आकाश की तरह अमूर्त हूँ, पर उपाधि का सम्बंध होने से आज विचित्र दशायें हो रही हैं। जब मैं अपने स्वरूप की सम्हाल करूँ तो ये सब विडम्बनायें दूर हो जायेंगी और आत्मस्वभाव की भावना से अलग रहूँ तो ये संसार के दुःख बने रहेंगे, बढ़ते रहेंगे। इससे सर्व पदार्थों को असार बेकार होने से निराला जानकर अपने आपके आत्मानुभव में तृप्त रहा करें यह ही अपने आत्मा पर वास्तविक दया कहलाती है। तत्त्वज्ञान करें, उसको अपने में प्रयोग रूप से अनुभवें, सम्यग्दर्शन पायें और यथाशक्ति ब्रत, संयम पालन करते हुए अपने में प्रसन्नता का अनुभव करें और अन्त समय में आत्मसावधानी रखते हुए इस शरीर को छोड़ें, तो यह उपाय है शीघ्र ही आत्म कल्याण पाने का मोक्ष मार्ग पा लेने का।

## श्लोक 141

मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि ।

### नामानि योऽति सोऽयंसचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥१४१॥

**अर्थ—**जो दयामूर्ति मूल, जड़, शाक, शाखा, गांठकन्द, फूल और बीज इन्हें कचे नहीं खाता वह सचित्त विरत नामक प्रतिमाधारी है ।

पहिले की सब प्रतिमाओं के पालन के साथ सचित्त त्याग प्रतिमा का पालन—इस छंद में सचित्त त्याग नाम की पंचम प्रतिमा का स्वरूप कहा है । जो पुरुष अपने आपके स्वरूप का श्रद्धान करके देव, शास्त्र, गुरु की आस्था से अपने आप में अपने अनुभव को दृढ़ बनाकर आगे गमन करता है वह श्रावक ऋमशः कैसे-कैसे त्याग बढ़ाता है और किस तरह अपने आप में लीन होने का मार्ग बनाता है वह सब इन प्रतिमाओं में दिखाया जा रहा है । सचित्त त्यागी श्रावक ने बारह ब्रतों का पालन किया, ३ बार नियमित निरतिचार सामायिक किया और अष्टमी चतुर्दशी के दिनों में एकाशन उपवास करके बहुत समय चैत्यालय में या ख्याल में बैठकर धर्म साधना के लिए दिया, और वह सब बराबर करता चला आ रहा है । अब वही यहाँ सचित्त पदार्थों के भक्षण का त्याग कर रहा । जितने भी सचित्त पदार्थ फल, शाक, कंद, फूल बीच हैं उन सबका त्याग करता है उनको नहीं खाता । कुछ तो ऐसे अभक्ष्य सचित है कि जिन्हें पहले से ही नहीं खा रहा था और कुछ तो बच रहे हैं सचित उनका भी यहाँ त्याग कर चुका है ।

वृक्ष या बेल से तोड़ लेने पर भी अपक्व फलों में सचित्तता—सचित्त फल, शाक जिन्हें कि तोड़कर या बाजार से खरीदकर लाते हैं तो वे फल और शाक अचित्त नहीं हैं, जैसे वृक्ष में बेल लगी थी । उस बेल से वृक्ष से तोड़ लिया गया फल तो उसमें वह एक जीव तो नहीं है, पर प्रत्येक फल फूल में अलग से असंख्यात वनस्पति जीव रहते हैं । जैसे आपके शरीर का मालिक एक जीव है पर इस शरीर में तो अनेक जीव पड़े हैं, अंगुली कट जाय तो कटी हुई अंगुली में वह एक जीव तो न रहा । वहतो इस बड़े शरीर में ही है, पर अंगुली में खुद में जीव अनेक रहते हैं । ऐसे ही वृक्ष में आम संतरा आदिक फल लगे हैं, बेल में लौकी, तुरई आदिक फल लगे हुए हैं, उनको तोड़ा गया तो वह वृक्ष वाला जीव तो फल में नहीं आया, किन्तु फल में खुद अनेक जीव रहते हैं । सो जब तक ये पके नहीं, गरम न हों, जो प्रासुक विधि है उससे प्रासुक न हों तो ये सचित्त कहलाते हैं । सचित्त पत्र, फल, छाल, मूल, पत्ते, बीज इनको जो ज्ञानी जीव नहीं भक्षण करता खाने का त्याग करता है उसे ही तो सचित्त त्यागी कहते हैं । यहाँ पानी गर्म करता है, फल शाक आदि को बीनार कर रसोई बनाता है यह ५वीं प्रतिमा वाला, लेकिन मुख से कच्ची चीज नहीं खाता, यद्यपि हाथ से बनाया सचित चीज उसमें भी एकेन्द्रिय जीव की हिंसा तो हुई, पर मुख से एकेन्द्रिय की हिंसा करने में विशेष आसक्ति सिद्ध होती है । तो यह सचित्त त्यागी श्रावक सचित पदार्थों का भक्षण नहीं करता ।

स्वपर दयामूर्ति श्रावक के सचित्त त्याग की प्रतिष्ठा—सचित्त त्यागी पुरुष सचित्त पदार्थों को स्वयं तो भक्षण करते नहीं पर उसे ऐसा विवेक रखना चाहिए कि अन्य पुरुषों को भी सचित्त का भक्षण न कराये । तो जो पुरुष सचित्त फल आदिक का त्याग करता है उसने इस जिह्वा के स्वाद को जीत लिया । अनेक फल ऐसे होते हैं कि सचित्त में स्वाद होता है और अचित्त में स्वाद कम रह जाता है । जैसे सेव संतरा आदिक इन्हें गर्म कर

लिया जायतो इनके रस में बदल हो जाती है। तो जो सचित्त का त्याग करते हैं उन्होंने इस दुर्जय जिहा को जीत लिया। कच्चे जल में स्वाद विशेष होता है और वह काम पोषक होता है। गरम पानी हो गया तो उसका रस बदल गया। अब उसमें कामा वेश की शक्ति नहीं रहती। तो सचित्त त्याग करने के दो प्रयोजन हैं। (१) एक तो एकेन्द्रिय जीव की हिंसा टल जाय। (२) दूसरे कामोत्तेजक नहीं ऐसे इन दो प्रयोजनों से यह दयामूर्ति सचित्त त्याग करता है और वह जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का पालन करता है, सचित्त पदार्थों को अचित्त करने की तरकीबें अनेक होती हैं। कुछ फल बिनारने से अचित्त हो जाते हैं, कुछ पकाने से अचित्त होते हैं, कुछ सूखने से अचित्त होते हैं, तो ऐसे अचित्त फलों का यह भक्षण करेगा सचित्त का भक्षण नहीं करता। अब यह गृहस्थ श्रावक अपनी धर्मसाधना में क्रमशः बढ़ रहा है। अब इसके बाद छठी प्रतिमा का वर्णन करते हैं।

## श्लोक 142

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाशनाति यो विभावर्याम् ।

स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्वेष्वनुकम्पमामनाः ॥१४२॥

**अर्थ—**जो रात्रि में अन्न, पान, खाद्य, लेह्य आदि पदार्थों को नहीं खाता वह जीवों पर दया करने वाला रात्रि भुक्ति विरत नाम का श्रावक है।

**रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा—**जिसको प्राणियों पर दया आती है ऐसा पुरुष रात्रि में बनाये हुए भोजन को नहीं खाता और दिन में बनाये हुए भोजन को भी रात्रि में नहीं खाता। रात्रि भोजन का त्याग तो पहली प्रतिमा से ही था, पर यहाँ छठी प्रतिमा में रात्रि भोजन त्याग इसलिए बताया है कि अब यह स्वयं रात्रि को न खायगा और दूसरों को भी न खिलायगा। छठी प्रतिमा से पहले यह गृहस्थ दूसरों को कभी-कभी रात्रि में खिला देता था अथवा रात्रि में खिलाने का हुक्म दे देता था। अब छठी प्रतिमा धारण करने पर यह रात्रि में खायगा नहीं, न दूसरों को खिलायगा। न रात्रि को खाने खिलाने के लिए अनुमोदन करेगा। चार प्रकार के भोजन होते हैं (१) खाद्य (२) स्वाद्य (३) लेह्य और (४) पेय। जैसे जिससे प्रतिदिन पेट भरा जाता है दाल, भात, रोटी आदिक ये खाद्य कहलाते हैं, इनका भक्षण रात्रि को यह छठी प्रतिमाधारी न करता है, न कराता है, न करते हुए को भला मानता है। स्वाद्य लड्डू, पेड़ा आदिक जो रोज-रोज नहीं खाये जाते, न इनसे पेट भरता, एक स्वाद का ही प्रयोजन बनाते हैं। लेह्य पदार्थ वे हैं जो चाटे जाते हैं, रबड़ी, चटनी आदिक और पेय पदार्थ वे हैं जो पीने योग्य होते हैं जैसे दूध, जल आदिक। तो ऐसे चार प्रकार के आहार होते हैं, इन्हें छठी प्रतिमा वाला न खायगा, न खाते हुए को भला मानेगा, क्योंकि रात्रि में जीव जंतुओं का गमन विशेष हो जाता है, सो रात्रिभोजन करने से उन जीवों का विघात हो जाता है।

**रात्रि भोजन से स्व पर विघात—**अनेक जगह रात्रि में भोजन करने से बारात की बारात रुग्ण हर्झ, अनेक लोग मरे और अनेक बेहोश हुए। जैसे रात्रि में कड़ाही जल रही है, मान लो खीर बनाई गई और उसमें कोई छिपकली गिरकर पक गई, उस खीर को लोगों ने खा लिया, तो उसके खाते ही दस्त आना, बुखार आना शुरू

हो गया, ये सब बातें होती हैं। तो रात्रि भोजन करना जैन शासन में बिल्कुल निषिद्ध है। बच्चे, बड़े रात्रि भोजन त्याग निभाना चाहें तो भली भाँति निभेगा, पर स्वाद का लोभ लगा है इसलिए ऐसा महसूस करते कि यह तो न चल सकेगा, रात्रि में भोजन न करें या दूध आदिक न लें तो चल न सकेगा, ऐसा अनुभव करते हैं, पर चल क्यों न सकेगा? आज पुण्य का उदय है, अनेक वैभव प्राप्त हुए हैं जैसा चाहे मन कर लें, किन्तु कषायभाव आने से पाप का बंध तुरन्त होता रहता है, और उस पाप के उदय में फिर इसे दुःख भोगना पड़ता है।

**रात्रि भोजन त्याग में आत्मलाभ**—जिसने रात्रि भोजन का त्याग किया सो मान लो कि एक वर्ष में ६ माह का उपवास सा ही हो गया। रात्रि में तो कुछ न खाया तो यह भी एक बहुत बड़ा सदाचार है तो जो श्रावक रात्रि में चारों ही प्रकार के भोजन को नहीं ग्रहण करता तो वह रात्रिभर उपवास में तो रहा ही आया, रात्रि में कुछ भी करेगा सो एक वर्ष के आधे दिन याने ६ माह तो उपवास किया, ऐसा समझ लो। यद्यपि वह उपवास रूप नहीं है एक त्याग किए हुए है, वह आधा वर्ष तो निकल गया भोजन न करने में। तो रात्रि भोजन त्याग करने वाले का रात्रि में कूटना, पीसना, पानी भरना, झाड़ू, बुहारी लगाना आदिक ये सब आरम्भ दूर हो जाते हैं। रात्रि भोजन त्यागी स्त्रियां भी होती हैं, ११ प्रतिमायें स्त्रियां भी धारण कर सकती हैं, पुरुष भी धारण करते हैं, तो एक प्रश्न आता है कि किसी महिला के छोटा बच्चा हो तो वह रात्रि को उसे दूध पिलायगी या नहीं? तो यदि न पिलाये तो यह बच्चे पर दया न रही अतएव छोटा शिशु तो दिन रात में बीसों बार दूध पी लेता होगा। तो ऐसा महापुरुषों ने बताया है कि महिला की छठी प्रतिमा हो तो भी वह अपने बच्चे को दूध पिला सकती है और इसके अतिरिक्त दूसरे को न खिलाये, न स्वयं खाये, ऐसे बड़े कठोर नियंत्रण से छठी प्रतिमा का आचरण होता है। अब सप्तम प्रतिमा ब्रह्मचर्य व्रत के सम्बंध में कहते हैं।

## १४३

मलबीजं मलयोनिं गलन्मल पूतिगंधिबीभत्सं ।

पश्यन्नङ्मनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥१४३॥

**अर्थ**—जो श्रावक शरीर को मल से उत्पन्न होने वाला, मल का जनक, मल मूत्र को बहाने वाला, दुर्गन्धयुक्त, ग्लानि का उत्पादक देखता हुआ मैथुन से विरत होता है वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी कहलाता है।

**ब्रह्मचर्य प्रतिमा**—ब्रह्मचर्य के विरुद्ध व्यभिचार में जो प्रवृत्ति करते हैं उनकी दृष्टि दूसरे देह पर ऐसी होती जैसे मानों वही सारभूत हो। सो यह शरीर कितना धिनावना और अपवित्र है कि मलका तो यह बीज है। जैसे बीच से अंकुर फूटता है ऐसे ही इस देह से मल निकलता है और कितना मल निकलता? खून पीप आदिक तो सारे शरीर में है ही? पसीना भी निकलता हाड़, मांस, मज्जा भी सर्वत्र है। किन्तु मुख में इतने मल हैं कि जितने सारे शरीर में नहीं है म। कह सकते हैं कि पेट में अन्य अंगों की तरह मैल हैं और उसके अतिरिक्त दो मैल और अधिक हैं—टट्टी और पेशाब। मगर मुख में तो बड़े ही मैलों की संख्या है। जैसे कफ

निकलना, थूक आना, नाक बहना, आँख का कीचड़, कान का मैल आदिक कितने ही मैल भरे है इस मुख में, मस्तक में। तो जो अधिक गंदा है इस देह के अन्दर वह मुख है अधिक गंदा। इतनी गंदगी हाथ में कहां है? हाथ में खून है, मज्जा है, हड्डी है और मुख में ये तो सब है ही मगर थूक, नाक वगैरह अनेक मैल यहाँ पाये जाते हैं। फिर कैसा अनोखा राग है मोहियों का कि शरीर में सबसे अधिक प्रिय मुख लगता है इन मोही जीवों को। तो शरीर का बीज मल है अर्थात् शरीर मल से उत्पन्न होता है और मल की योनि है। इस शरीर से मल निकलते हैं, निरन्तर मल झरते रहते हैं, अपवित्रता बनी रहती है, दुर्गम्भ भी है, बड़ा भयानक रूप है। यदि यह चाम ऊपर न होता तो कितना भयानक यह मनुष्य लगता। ऐसे वीभत्स बुरे देह में जो राग नहीं करता वह ब्रह्मचारी कहलाता है। यह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी समस्त स्त्री विषयक अभिलाषा को त्याग देता है। स्त्रीजन चार प्रकार की होती है। (१) एक तो देवियां (२) दूसरी मानुषी महिला, औरतें (३) तीसरी तिर्यञ्चिनी कुतिया, बिल्ली, गाय, गधी आदिक और (४) चौथे प्रकार की स्त्रियां हैं काठ पत्थर आदिक की, जिनको देखकर हृदय बिगड़े, प्रेम वासना उमड़े वे सब हेय हैं। सो इन सभी प्रकार की स्त्रियों में मन से, वचन से, काय से, कृतकारित अनुमोदना से राग न करना चाहिए। यह ब्रह्मचारी न तो स्त्रीजनों को मन से, वचन से, काय से चाहता है, न कृतकारित अनुमोदना का दोष लगाता है, स्त्री सम्बंधी अभिलाषा ही नहीं करता, न दूसरों को इस विषय में प्रेरणा देता है। ऐश यह पुरुष विकार भावों से दूर ब्रह्मचारी कहलाता है।

अठारह हजार प्रकार के कुशीलों का त्याग करने से अठारह हजार शील के प्रकारों का पालन—शील के १८ हजार भेद बताये गए हैं जिनका पूर्ण पालन तो ऊचे गुणस्थानों में होता है फिर भी इनसे विरक्ति रखना सभी गृहस्थों का कर्तव्य है। वे १८ हजार शील किस तरह होते? तो १८ हजार कुशील हैं, जिनके त्याग को शील कहा करते हैं। ४ प्रकार की तो स्त्री, देवी, मानुषी, तिर्यञ्चिनी और अचेतन काठ, शिल्पकारी की तो इन चार प्रकार की चेतन अचेतन स्त्रियों को मन, वचन, काय से सेवना सो ये  $4 \times 3 = 12$  भेद हुए। अब इन १२ प्रकारों को कृतकारित अनुमोदना से गुणा करने से  $12 \times 3 = 36$  भेद हुए और ये ३६ ही पाप ५ इन्द्रियों से किए जा सकते हैं तो ये  $36 \times 5 = 180$  भेद हुए। अब इनको १० संस्कारों से दृढ़ करना इस प्रकार ये  $180 \times 10 = 1800$  भेद हुए। वे १० प्रकार के संस्कार क्या हैं जो आत्मा के परिणाम से विचलित करते? (१) पहला है शरीर का संस्कार करना, (२) दूसरा है शृङ्गार रस राग ऐब सहित सेवन करना ये सब दोष बताये जा रहे हैं। शरीर को जो सजाता है तो समझिये कुछ इसके चित्त में अभी कमी है, (३) तीसरा संस्कार हँसी कीड़ा करना, (४) चौथा संस्कार है संसर्ग की इच्छा करना, (५) पांचवां संस्कार है विषयों का संकल्प करना, (६) छठा संस्कार है दूसरे के शरीर की ओर ताकना, (७) सातवां संस्कार शरीर को सजाना, (८) आठवां संस्कार है कुछ देना, नवमा संस्कार है पहिले भोगे-भोगों का स्मरण, दसवां संस्कार है मन में भोग की चिन्ता करना। इन १८०० को १० काम चेष्टावों से गुणा करना सो १८००० कुशील होते हैं। कुशील में काम सम्बन्धी १० चेष्टायें होने लगती हैं। जो पुरुष विवेक नहीं करता और यदवा तदवा भाव का बिगाड़ करता रहता है उसकी १० चेष्टायें कौन होती है? तो पहली चेष्टा काम की चिन्ता का होना है। जो प्रेमीजन है वे पास में न हों तो उनके लिए

दिल बना रहे, सो पहले तो चिन्ता होती है, जिसको काम सताता है। फिर जिसको दिल में बसाया उसके दर्शन की इच्छा होती है। न मिल सके दर्शन तो बड़ी दर्द भरी आहें भरता है, फिर शरीर में पीड़ा होती है, शरीर में जलन होने लगती, और यह उस धुन में खाने पीने का भी त्याग कर देता, फिर मूर्च्छित हो जाता, फिर पागल सा हो जाता और फिर जीवन का भी संदेह हो जाता है, वीर्यपात होने लगता है कामी अपनी शक्ति का भंग करता है। तो शील सम्बंधी दोष १८ हजार होते हैं, तो उन दोषों का त्याग भी १८ हजार प्रकार का हुआ। जो पूर्ण ब्रह्मचारी है वह इन भेदों को भी उल्लंघ देता है।

**ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक का विशुद्धभाव—ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने वाला पुरुष ही दयालु है, क्योंकि विभिन्न अंगों में अनेक सम्मूर्द्धन जीव रहते हैं।** तो हिंसा का परिहार करने वाले उन सब साधुओं का परित्याग किसलिए है? तो ब्रह्मचर्य प्रतिमा में कुशील से विरक्ति रहती है। कितने भी सुन्दर स्त्री पुरुष को निरखकर कोई मन में विकार नहीं आता जिसके ब्रह्मचर्य प्रतिमा होती है वह सप्तम प्रतिमाधारी कहलाता है। ११ प्रतिमाओं में ७वीं, ८वीं, ९वीं ये तीन प्रतिमायें मध्यम प्रतिमायें कहलाती हैं। और इससे नीचे गुण स्थानों में जघन्य और उनसे ऊपर उत्कृष्ट स्थानों में उत्तम कहलाती है। ब्रह्मचर्य का सीधा अर्थ है—ब्रह्म मायने आत्मा उसमें चर्य अर्थात् रमण करना, पर जिससे इतना न बन सके तो परमार्थ ब्रह्मचर्य पालन करने का मूल तो बन जाना चाहिए। सो यह ब्रह्मचारी तो मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदना से विषयों का परिहार करता है। लोक में अनेक शूरवीर सुने गए, पर वास्तविक शूरता ब्रह्मचर्य प्रतिमा निभाने वाले की है। सो आत्मा का अविकार स्वरूप जानकर बाहर में शरीर को अपवित्र निरखकर यह कुशील से विरक्त रहता है और अपने शील स्वभाव में उपयुक्त होता है।

जिस पुरुष ने छहों द्रव्यों का स्वरूप जाना है, प्रत्येक द्रव्य का गुण पर्याय उसही में है, इस कारण किसी द्रव्य से किसी द्रव्य का कोई सम्बंध नहीं है। न कोई किसी अन्य का कर्ता है, यह बस रहस्य जिसको स्पष्ट ही गया उस पुरुष को अब जगत के किसी पदार्थ में कुछ अभिलाषा नहीं रहती और आत्मकल्याण के लिए ही वह अग्रसर रहता है। इसका निर्णय है कि परमात्मदशा से पहले की सारी स्थितियां उसके लिए बेकार हैं। इन किन्हीं भी स्थितियों में मेरी पवित्रता नहीं, मेरे को शान्ति नहीं। व्यर्थ का भ्रमभार लादकर जगत में कष्ट पाता हूँ। अब इसके किसी भी बाह्यपदार्थ में इच्छा न रही, संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हुआ और बारह व्रतों का अभ्यास करके समता परिणाम की दृढ़ता बनाकर प्रति सप्ताह ४८ घंटे विशेष धर्म ध्यान में लगाकर दयावश सचित्त पदार्थों को अब नहीं खाता, इनका त्याग कर देता है। और रात्रि के भोजन में तो प्रकट हिंसा है सो रात्रि भोजन तो करता ही नहीं, न कराता है, न रात्रि भोजन करने वाले की अनुमोदना करता है। इन सब अभ्यासों से दृढ़ होकर इसके ब्रह्मचर्य की बड़ी तीव्र भावना जगी है। और अब निज स्त्री से भी सम्बंध का त्याग करता है अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

**ब्रह्मचारी की कुशील के साधनों से दूर रहने की वृत्ति—प्रतिमाधारी श्रावक अब यह घर में रह रहा है।** किन्तु निरतिचार ब्रह्मचर्य रहे इस भावना से वह अपनी विवाही स्त्री के कमरे में भी नहीं सोता। पूर्व में जो

भोग था उन भोगों का यह स्मरण नहीं करता । जिससे बढ़े ऐसे पुष्ट गरिष्ठ पदार्थों को वह नहीं खाता जिसकी आत्महित की भावना प्रबल हुई है उसे अब स्वाद से अथवा शरीर के पोषण से कुछ प्रयोजन नहीं रहा जब यह शरीर एक दिन छूटना ही है, यह श्मशान में जलाया जायगा, प्रकट भिन्न है, मल को बहाने वाला है, उस शरीर से भी क्या प्रेम रहे ज्ञानी का? ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी गरिष्ठ पदार्थों का भोजन नहीं करता । जो कामोदीपन करें राग बढ़ाये ऐसे वस्त्र आभरण नहीं पहिनता । बनावट सजावट से वह दूर रहता है शुद्धसात्विक वृत्ति से वह रहता है । वह गृहस्थ घर में रहता हुआ भी कितना पवित्र भावनाओं का पुरुष है । रागवर्द्धक, गीत, नृत्य, वादित्र आदिक का भी अब वह संग नहीं बनाता । धार्मिक गीत, धार्मिक नृत्य, धार्मिक समारोह में इनके बीच रहता हुआ हो तो अपने सद्भावों को ही बढ़ा लेता है इस कारण वह तो राग में शामिल नहीं है, वहतो धर्म के अनुराग में शामिल है, पर जिनसे राग बढ़ता है ऐसे गीत नृत्य आदिक का भी सम्बंध तज देता है । पुष्पमाला पहिनना, सुगंधित फुलेल लगाना, विलेपन करना, शृंगार की कथायें सुनना, कहना, हास्य की कथायें कहना सुनना, उपन्यास पढ़ना, अश्लील चित्र देखना आदिक इनसे तो अत्यन्त दूर रहता है । और भी रागकारी वस्तुवें, जैसे ताम्बूल भक्षण, जिनसे शरीर के प्रति राग जगता है, ऐसी बातों को वह त्याग देता है । एक परम ब्रह्मस्वरूप की भावना में बढ़-बढ़कर वह अपने को इस योग्य बना लेता है कि उसे अब द्रव्य उपार्जन करने का भाव नहीं रहता, तब इसके अष्टम प्रतिमा प्रकट होती है ।

## १४४

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारभतो व्युपारमति ।  
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारभविनिवृतः ॥१४४॥

**अर्थ—**जो सेवा, खेती, व्यापार आदि आरम्भों से, जो जीव हिंसा के कारण हैं, विरक्त होता है—उन्हें त्याग देता है वह आरम्भ विरत नामक प्रतिमाधारी श्रावक है ।

**स्वपर प्राणविधात** के कारणभूत होने से धनार्जन के आरम्भों का त्याग—जो सेवा, खेती, व्यापार आदिक आरम्भों से निवृत्त होता है वह आरम्भ त्यागी श्रावक कहलाता है । इस आरम्भ को क्यों त्यागता है? तो यह प्राणिवध के कारणभूत है । कितना ही बचाव हो आजीविका के उपायों में फिर भी कुछ न कुछ प्राणिवध सम्भव है । कोई सोचे कि नौकरी है या अन्य कुछ है जिसमें प्राणिवध का कार्य सम्भव नहीं है वह आरम्भ करे तो इसमें भी खुद का राग बढ़ता है, तो खुद में घात चल रहा है—अब यह अपना भी वध नहीं सह सकता दूसरे का वध भी नहीं सह सकता, इसलिए दयालु होकर अपनी रक्षा के लिए प्राणियों की रक्षा के लिए यह समस्त आरम्भ का त्याग कर देता है । घर में रह रहा है परिग्रह भी पास रखे हुए है । केवल एक नई आजीविका अर्थार्जन नहीं कर रहा, पर जो पहले से संचित है उसे तो रखे हुए है, उसमें अपना गुजारा कर रहा है, तो यह बचता हुआ अब दूसरे का मुंह न ताकेगा । यह खुद आहार बना सकता है और कोई ब्रती साधु संत मिलें

तो उनको आहारदान करा सकता है। यहाँ तो प्राणिबध के कारणभूत उन पट कर्मों से निवृत्त हुआ है जो आजीविका के साधन हैं। यह आरम्भ त्यागी आरम्भ छोड़ते समय अपने घर के बड़े पुत्रादिक को बुलाकर अपना विचार बताता है और उस ही समय थोड़ा सबको विभाग करता है इनको इतना धन दिया, इनको इतना दिया, खुद के लिए, इतना रख लिया और बाकी जो थोड़ा कुछ रखा है उसी अल्प धन से दुःखियों का, भूखों का उपकार करता है, अपनी भी उदर पूर्ति करता है।

**आरम्भ त्यागी आवक का प्रगतिशील आशय—आरम्भ त्यागी श्रावक को यह भय नहीं है कि जो मैंने थोड़ा सा अपनी उदर पूर्ति के लिए रखा है, यदि यह निपट जायगा तो क्या करेंगे? उसका एक ही निर्णय है कि अगर यह भी निपट जायतो आगे मैं प्रतिमा क्षेत्र में बढ़ूंगा, धर्मसाधना में बढ़ूंगा। चिन्ता उनको होती है जो धर्म में बढ़ने की उमंग नहीं रखते और अपने देह पर दृष्टि अधिक धरते। यह आरम्भ त्यागी जो कुछ थोड़ा अपने लिए रखा है उससे शरीर का साधन बनाया है। औषधि, भोजन, वस्त्र आदिक का साधन बनाया है। साधर्मीजनों के दुःखों के दूर करने का साधन बनाया है वह अपने आरम्भ का उपयोग पापारम्भ में नहीं करता। जो कुछ धन रखे हैं उसको यदि कोई चोर चुरा ले या कोई हर लेती वह क्लेश नहीं मानता और उसे उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं करता कि यदि मेरे ये १० हजार रुपये लुट गए हैं तो फिर से मैं कमाऊ। ऐसा भाव नहीं रखता, किन्तु इन प्रसन्नता का अनुभव करता कि जो अवसर मुझे चाहिये था वह सहज ही मिल गया। वह आगे की प्रतिमाओं में बढ़ता है और अपने को धन्य मानता कि जो कुछ मैं रखा था उसमें मैं रागी हो रहा था, वह भी छूट गया, ऐसा वह परिग्रह के छूटने में आनन्द का अनुभव करता है और परिग्रह त्याग प्रतिमा धारण करता है और यदि इस तरह से परिग्रह न लुटे तो खुद भी परिग्रह का त्याग कर के आगे बढ़ता है।**

## १४५

बाह्ये दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः ।

स्वस्थः संतोषपरः परिचित्परिग्रहाद्विरतः ॥१४५॥

**अर्थ—**जो बाह्य दश प्रकार के धन धान्यादिक परिग्रहों में समत्व का त्यागकर निर्मम भाव में लीन रहता हुआ संतोषपूर्वक आत्मा में स्थित रहता है वह रातदिन परिचय में आने वाले परिग्रह से विरत पद का धारी है।

**परिग्रह विरत श्रावक का मोक्ष मार्ग में बढ़ना—**ज्ञानमय सहज आनन्दस्वरूप निज परमात्म तत्त्व की प्रबल भावना के कारण इसके परिग्रह के प्रति रंच भी लगाव न रहा। सो अब यह १० प्रकार के परिग्रहों को त्यागता है एक थोड़े से वस्त्र और एक आध पात्र रखता है बा की सर्व का त्याग कर देता है। उस समय अपने कुटुम्ब की बाद की जिम्मेदारी को बोलकर अपनी भावना बताता है। अब परिग्रह के प्रति भाव न रहा। मैं परिग्रह का त्याग कर रहा हूँ। यह नौर्वीं प्रतिमा सम्बंधी त्याग है। यह परिग्रह त्याग मुनि के परिग्रह त्याग बराबर नहीं है। वह तो महाब्रत में है और यह अभी देशब्रत में है। अपने लिए वस्त्र, कमण्डल इतने मात्र रखा है, सो अपने पुत्रादिक से कह रहा कि अब तुम इसकी सम्हाल करो और जो गृहस्थी में रहकर सामाजिक धार्मिक

कार्य आते हैं, जिन में धन त्याग करना पड़ता है वे सब बहुत ही सम्हाले, मैं तो इनसे अलग होकर अपने निर्विकल्प अखण्ड ज्ञायक स्वरूप परम ब्रह्म में दृष्टि को दृढ़ करने के अभ्यास के काम में जा रहा हूँ। सो जिसको कुछ देना था, जो विभाग करना था वे सब विभाग करके रूपया पैसा, सोना, चांदी गोधन, मकान सभी का त्याग कर देता है। अब यदि यह उसी घूर में रहता है पुत्रों के कहने से तो रहा आता है, पर उसके भावों में यह नहीं है कि मैं अपने मकान में रह रहा हूँ। जिस काल पुत्र थोड़ी भी निगाह फेरेंगे, संकेत करेंगे कि अब यहाँ से जाइये, तो यह चला जाता है। इसके लिए मंदिर या सार्वजनिक स्थान, त्यागीजनों के ठहरने के स्थान ये सब बेरोकटोक पड़े हैं।

**परिग्रह विरत श्रावक की वृत्ति—परिग्रह विरत श्रावक परिग्रह का त्यागकर थोड़े मूल्य के वस्त्र रखता है।** बहुत मूल्य की चीजें रखने में त्यागी साधु के लिए शोभा की बात नहीं है। इतनी ही बात नहीं, किन्तु एक कलंक है। बहुत बढ़िया पेन रखे, बहुत बढ़िया सुहावनी चटाई रखे, बहुत कीमती अनेक बातें रखे तो उनसे चित्त में बिगड़ ही है, विकार ही है, लाभ क्या है? जिन बाह्य पदार्थों से राग बने, ऐसी बहुत मूल्य की चीजें अगर पास में हैं तो कहीं यह चीज गुम न जाय, ऐसा भाव भी रखेगा। कोई चुरा न ले इसलिए थोड़ा सुरक्षा का भी भाव रखेगा, तो ये सब आत्मा की आराधना में बाधक हैं। आत्मकल्याणार्थी को तो केवल निज ब्रह्मस्वरूप से ही अनुराग है, उसका सारा चिन्तन, उसका सारा बोल, उसकी चेष्टा केवल उस ब्रह्म भक्ति के लिए ही है। थोड़े मूल्य के प्रामाणिक वस्त्र रखता है। हाथ पैर धोने के लिए मात्र बर्तन रखता है। यह रहता कहां है? पुत्रादिक निवेदन करें तो वह घर के किसी अलग कमरे में रहता है या अन्य एकान्त में रहता है। भोजन वस्त्रादिक घर का देवे तो उसे भी ग्रहण कर लेता है, कोई दूसरा भक्तिपूर्वक देवे तो उसे भी ग्रहण कर लेता है। कभी कोई शारीरिक व्यथा हो, असह्य वेदना हुई तो बता भी देता है घरवालों को और वे वैयावृत्य करे तो करें, न करें तो न करें, उस पर कोई अधिकार नहीं चलाता। जैसे कि घर में रहने वाले लोग पुत्रादिक कोई कार्य न करें उसके मन माफिक तो अभी तक यह डाटता था, पर अब इसको डांटने का या कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है, यह सब उपशम भाव से रहता है। किसी भी समय किसी भी घटना में यह नवम प्रतिमाधारी श्रावक पुत्रादिक से कुछ भी उलाहना की बात नहीं कहता कि मैंने इतना सारा धन कमाया, मैंने यह मकान बनवाया हमने तुम को यह मकान दिया है आदि।

**परिग्रह विरत श्रावक का उत्कर्ष—भैया,** एक सहज आत्म स्वरूप का अनुभव होने पर कैसा व्यवहार करना चाहिए यह सिखाने की जरूरत नहीं रहती। जिसको आत्मस्वरूप के अनुभव की धुन लग गई है उसका स्वयं ही उपादान इस योग्य होता है कि जो अपने आप में क्षोभ न करे और दूसरे के क्षोभ का कारण न बने। यह परिग्रह त्यागी श्रावक अपना समस्त समय जो भी बचता है भोजन पान आदिक से, वह धर्मध्यान में लगाता है, दूसरे से सुनना, खुद पढ़ना, दूसरों को सुनाना, तत्त्ववार्ता करना, एकान्त में रहकर अनेक प्रकार के चिन्तन करना, भावना करना, धर्म सम्बंधी सभी दृष्टियों का यह प्रयोग करता है। अब नवम प्रतिमा में रहता हुआ यह श्रावक इतना अभ्यस्त हो गया है कि अब पुत्रादिक कोई वार्ता पूछते तो उसकी अनुमोदना अथवा सम्मति नहीं

देता । नवम प्रतिमा तक तो कदाचित कोई पुत्र कुछ बात पूछ ले, क्योंकि नया-नया भार लिया है पुत्र ने तो उसमें कितनी ही कठिनाइयां भी आती हैं, कुछ मार्गदर्शन भी चाहिए, सो कदाचित पूछते थे ये पुत्रादिक तो यह संक्षिप्त शब्दों में कुछ बात कह भी देता था, पर अब १०वीं प्रतिमा के भाव होने वाले हैं तो इसको अब भाव न रहा कि मैं किसी भी विषय में कुछ भी सम्मति दूँ इस प्रकार अब वह दशम प्रतिमा ग्रहण करने को उद्यत हुआ ।

## श्लोक 146

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे ऐहिकेषु कर्मसुवा ।  
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥१४६॥

अनुमति त्याग प्रतिमा का लक्षण व आरम्भ त्याग प्रतिमा तक घर में रहकर व्रत निभाव करने का गुण— आरम्भ परिग्रह इस लोक सम्बंधी कार्य इन सबमें अब जिनके अनुमति न रही, समान बुद्धि हो गई वह अनुमति त्यागी श्रावक कहलाता है । घर में रहता हुआ यह धर्मसाधना करे और इस तरह यह ९वीं १०वीं प्रतिमा तक रह सकता है, पर अधिकार पूर्वक न रहेगा ९वीं और १०वीं प्रतिमा में । दूसरा बताया गया है गृहत्यागी श्रावक मगर गृहत्यागी श्रावक कितना उच्च होना चाहिए, कितना निरपेक्ष होना चाहिए वह परिग्रह त्यागी की तरह हो तो व्रत रखे तब वह गृह विरक्त श्रावक कहला सकता । आज कुछ ऐसी खिचड़ी बन गई है कि मौज के लिखो गृह विरत हूँ इस प्रकार की घोषणा करते हैं और वृत्ति रखते हैं गृह निरत श्रावक से भी ओछी । घर में रहने वाला श्रावक सहज विरक्त रहता है, जो उसके पास संग है परिग्रह है धन है उससे भी विरक्त रहता है परन्तु घर छोड़कर अपने को गृहत्यागी, ब्रह्मचारी जैसा कहकर धन संग्रह करने की तीव्र लालसा रखने लगते हैं, क्योंकि लोगों से धन मिलता है मुफ्त मिलता है, सो उसके प्रति विशेष वासना बन जाती है । पहले था नहीं तो अधिक लालसा हो जाती है, इस कारण जिसको आत्मकल्याण चाहिए उसको अष्टम प्रतिमा तक तो घर में ही रहकर निभाव करना चाहिए अन्यथा उसके मन का संतुलन ठीक नहीं रह पाता । जिससे घर में न बने उससे घर छोड़कर क्या बनेगी? जहाँ तक घर में रहकर साधारण रूप जैसी मुद्रा रखकर धर्म साधना करते नहीं बन सकता है तो जिसे वास्तव में धर्म साधना कहते हैं वह घर छोड़कर भी नहीं बन पाता । दूसरी बात यह है कि घर में रहकर इन प्रतिमाओं के पालन करने वाले में अहंकार नहीं आता । मद नहीं होता, घमंड नहीं होता, जबकि प्रतिमा तो चाहे पहली दूसरी ही बताये और घर छोड़कर चले तो यह अपने चित्त में मानने लगता है कि मैं पूज्य हूँ, ये लोग मेरे पूजक हैं, इन लोगों को हाथ जोड़कर ही मुझ से वार्ता करना चाहिए । कितनी ही बातें कल्पना में वह बढ़ा लेता है जिससे वह खुद भी परेशान रहता है और गृहस्थ श्रावक भी परेशान हो जाते हैं । तो जो आचार्यों के बताए हुए प्रतिमाओं के स्वरूप में मुद्रा कही गई है उस मुद्रा में रहते हुए धर्म साधना करने में आत्महित है ।

परिग्रहत्याग प्रतिमा के निर्देष पालन कर लेने से अनुमति त्याग प्रतिमा के पालन की सुगमता—जिसने

परिग्रह का त्याग भली प्रकार निभाया यह भली भाँति निर्णय करके कि परिग्रह हीन तो दीन दरिद्री भिखारी भी होते हैं। पर परिग्रह त्याग का महत्व उनके हैं जिनके अन्तरङ्ग परिग्रह का त्याग रहता है। क्रोध, मान, माया, लोभ हास्यादिक भाव ये जिसके अत्यन्त मंद हो गए हैं, इन आभ्यंतर परिग्रहों से जो विरक्त हो गया है उसके ही बाह्य परिग्रह त्याग की शोभा है और वह सार्थक है। सो इस श्रावक ने अंतरंग बहिरंग दोनों ही परिग्रहों के त्याग की बात निभायी थी और उससे बढ़-बढ़कर अब यह इस स्थिति में आ गया है कि किसी भी कार्य के अनुमोदना का भाव नहीं जगता। कोई आरम्भ सम्बंधी बात पूछे तो उसका अनुमोदक शब्द नहीं निकलता। परिग्रह सम्बंधी, घर बनाने आदिक सम्बंधी, व्यापार आदिक सम्बंधित कुछ भी बात कुटुम्बीजन पूछे तो उसकी अनुमोदना नहीं देता और ऐसा भी समर्थन नहीं करता कि इसने यह बहुत भला किया। कितना विरक्त है यह दशम प्रतिमाधारी श्रावक कि भीतर में इस प्रकार की भावना और वासना भी नहीं बनती। कार्यों के प्रति राग नहीं रहा है उसके समता बुद्धि होती ही है। यह अनुमति विरत श्रावक, इसको घर के लोग अथवा अन्य साधर्मीजन आहार के लिए बुलाते हैं, चाहे वह आहार खारा हो या रूखा हो, कड़वा हो? मीठा हो उसमें स्वाद बेस्वाद नहीं मानता एक ही दृष्टि है कि इस गड्ढे को भरना है जीवन चलाने के लिए और यह जीवन है रत्नत्रय की साधना के लिए। जहाँ रत्नत्रय धर्म के प्रति लगाव है वहाँ अटपट बात कैसे आ सकती है?

**अनुमति त्यागी श्रावक को साम्य बुद्धि—**किसी कार्य में कुटुम्ब को नुकसान हो या नफा हो अथवा किसी प्रकार की वृद्धि हानि हो, उसमें इसको सुख दुःख नहीं होता। सर्व जीव अत्यन्त भिन्न हैं, सर्व जीवों का भवितव्य उनकी करनी के अनुसार है जिनके बीच घर में रहे थे वे भी भिन्न पर जीव हैं। जैसे मेरे लिए जगत के अन्य जीव हैं वैसे ही घर के लोग भी उनके समान हैं, ऐसा भिन्न अपने आपको निरखा है इस कारण अब इनकी हानि वृद्धि में हर्ष विषाद नहीं होता। जैसे अन्य जीवों पर गुजरने पर जो बात सम्भव है इनके चित्त में वही बात कुटुम्बीजनों पर गुजरने पर सम्भव है। ऐसा यह अनुमति त्यागी श्रावक जैसा उत्कृष्ट श्रावक में ग्रहण किया है यह सर्व प्रकार की बाह्य घटनाओं की अनुमोदना से रहित है। निरन्तर केवल यह ही वाज्ञा है कि मैं अपने सहज परमात्मतत्व को निरखता ही रहूँ। इसी में ही तृप्त रहूँ। अन्य कुछ कार्य मेरे करने को नहीं है, ऐसा जिसका दर्शन है वह श्रावक है अनुमति त्यागी। पहले की ६ प्रतिमायें जघन्य प्रतिमायें मानी गई हैं, ७वीं, ८वीं, ९वीं प्रतिमायें मध्यम में कही गई हैं और १०वीं ११ वीं प्रतिमायें उत्कृष्ट श्रावक में कही गई हैं। उसमें भी अर्थात् उत्कृष्ट में भी उत्कृष्ट ११वीं प्रतिमा वाले श्रावक हैं। ऐसा लौकिक अनुमोदना से रहित श्रावक अपने आत्मा की आराधना में लगा हुआ है।

## १६०क 147

गृहितो मुनिवनमित्वा गुरुपकण्ठे ब्रतानि परिगृह्य ।

भैक्ष्याशनस्तपस्यन्तकृष्टश्चेलखण्डधरः ॥१४७॥

**अर्थ—**जो घर से मुनि वन में जाकर और गुरु के निकट ब्रतों को ग्रहण कर अनशनादि तपों को तपता हुआ

भिक्षावृत्ति पूर्वक आहार ग्रहण करता है वह वस्त्र के एक टुकड़े का धारी उत्कृष्ट श्रावक है।

**उद्दिष्टाहार विरत उत्कृष्ट श्रावक—**श्रावकों में उत्कृष्ट श्रावक, उत्कृष्ट त्यागी का इसमें वर्णन किया गया है। जो घर से चलकर मुनि वन में जाकर गुरु के समीप ब्रत को ग्रहण करके भिक्षावृत्ति से आहार करता हुआ तपश्चरण में समय व्यतीत करता है वह उत्कृष्ट श्रावक है और वह खण्ड वस्त्र का धारी है। इस छंद में मुख्यतया ऐलकपद का ग्रहण होता है। एक ही खण्ड वस्त्र लंगोटी जैसा वस्त्र धरण करने वाले पर गौण रूप से क्षुल्लक ब्रत का भी ग्रहण होता है, क्योंकि वर्णन उत्कृष्ट ही करना चाहिये था और एक ही छंद में किया गया है। जहाँ अनेक छंदों में वर्णन है वहां तो खोला गया है कि क्षुल्लक का यह स्वरूप है, पर इस ग्रन्थ में एक ही छंद में, एक ही विशेषण से जो वर्णन किया उससे उत्कृष्ट तो ऐलक का ग्रहण है और गौण रूप से क्षुल्लक का। मुनि वन जिस वन में मुनि रहें उसे भी मुनि वन कहते हैं और जो मुनियों का संग है वह भी मुनि वन की तरह है। वहाँ यह श्रावक खण्ड वस्त्र मात्र रखकर, बाकी सर्व परिग्रहों का त्याग करता। अनुमति त्याग प्रतिमा में बुलाने पर जाता था, पर यह बुलाना भी छूट गया। अब भिक्षावृत्ति से जायगा और जहाँ योग्य विधि मिलेगी वहाँ आहार ग्रहण करेगा।

**अनुद्दिष्ट आहार का तात्पर्य नवकोटि विशुद्ध आहार—**अनुद्दिष्ट आहार वह कहलाता है कि जो केवल मुनि के लिए ही आहार न बने। यदि गृहस्थ मुनि का ध्यान करके कि हम इनको आहार देंगे और रसोईघर में समस्त आहार शुद्ध बनाया जा रहा है तो वहाँ उद्दिष्ट दोष नहीं आ पाता। उद्दिष्ट दोष का प्रयोजन है कि गृहस्थ को केवल साधु के लिए अर्जन न करना पड़े यदि साधु की बात मन में आये और उतने मात्र से उद्दिष्ट माना जायतो फिर अतिथि सम्बिभाग ब्रत नाम किसका? अतिथि सम्बिभाग ब्रत में मैं साधु को भोजन कराऊंगा, ऐसी उसकी प्रतिज्ञा रहती है और ब्रती श्रावक है उसके लिए भी विधान है कि वह किसी भी दिन संकल्प कर सकता है कि मैं आज अतिथि को भोजन कराऊंगा। जैसे कि कोई किसी तिथि का नियम रखता है कि अमुक मास में अमुक तिथि को मैं अतिथि सम्बिभाग करूंगा, ऐसा वर्णन है और फिर गृहस्थ को चाहे केवल मुनि के उद्देश्य से ही बनाये मानों तो प्रथम तो वह साधु देख लेगा कि केवल एक व्यक्ति के लिए आहार बनाया गया, तो वह न लेगा, और न मालूम पड़े बहुत सामग्री हो तो वहतो नवकोटि विशुद्ध रहेगा। उसे दोष न आयगा। जहाँ उद्दिष्ट आहार का त्याग बताया है उन छंदों में नवकोटि विशुद्ध आहार कहलाता है। इस विषय में अन्य ग्रन्थों में स्पष्ट विवरण है। कर्तिकेयानुप्रेक्षा में ये ही शब्द दिये हैं कि जो भिक्षावृत्ति से नवकोटि विशुद्ध आहार को करता है वह उद्दिष्टाहार विरत है। उद्दिष्टाहार विरत से मतलब केवल उद्दिष्टाहार से मतलब नहीं, किन्तु उद्दिष्ट अन्य भी चीज हो, आसन शयन उपकरण आदिक वे सब गर्भित हैं, पर इन सब उद्दिष्टों की मुख्यता मुनिब्रत में है, यहाँ भी अभ्यास रूप निरखा जाता है।

जो पुरुष नवकोटि विशुद्ध आहार करता है भिक्षावृत्ति से दूसरे घर पर भ्रमण करके तो वह उद्दिष्टाहार विरत कहलाता है। उस आहार में न मन में संकल्प होता कि ऐसा किया जाय, न मन से कराया गया हो, न मन से अनुमोदा गया हो, इसी प्रकार वह आहार न वचन से किया गया हो, न कराया गया हो, न अनुमोदा गया

हो इसी तरह वह आहार न काय से किया गया हो, न कराया गया हो, ऐसे आहार को ग्रहण करने वाला साधु पुरुष उद्दिष्टाहार विरत कहलाता है। यह श्रावक मुनि की ही तरह श्रावक के घर जाकर भिक्षा भोजन करता है, श्रावकों के द्वार पर पहुंचकर भी वह मांगता नहीं कि मुझे भोजन दो, न आहार के लिए द्वारा खटखटाता है। जैसे मुनि के योग्य नवकोटि विशुद्ध आहार बताया गया वैसा आहार करता है। अन्न पवित्र होता हुआ वह दातार और पात्र को भी पवित्र करता है। दातार शुद्ध होता हुआ वह अन्न और पात्र को भी पवित्र करता है। पात्र पवित्र होता हुआ दातार और अन्न को भी शुद्ध करता है। इस प्रकार के नव कोटि का विशुद्ध आहार करने वाला उत्कृष्ट श्रावक त्यागी कहलाता है।

**उद्दिष्टाहारविरत श्रावक के दो प्रकार—उद्दिष्टाहारविरत श्रावक के दो भेद हैं—**(१) लंगोटी व एक वस्त्र रखने वाला, (२) केवल लंगोटी रखने वाला, अर्थात् क्षुल्लक और ऐलक। क्षुल्लक शब्द के साथ श्रावक शब्द न जोड़ना चाहिए। जैसे कोई कहे कि यह क्षुल्लक श्रावक बन गया है तो यह अनुचित प्रयोग है। क्षुल्लक का अर्थ है छोटा, तुच्छ, तो अर्थ हो जायगा तुच्छ श्रावक “क्षुल्लक शब्द के साथ मुनि शब्द जोड़ा जाता है—क्षुल्लक मुनि अर्थात् छोटा मुनि”। ऐलक श्रावक नहीं किन्तु ऐलक मुनि, अर्थात् ईषत् वस्त्र वाला मुनि। णमोकार मंत्र में निर्गम्य मुनि को ही ग्रहण किया गया है, पर क्षुल्लक शब्द का जो अर्थ है, उसके साथ श्रावक शब्द नहीं लगता। अगर उसे श्रावक शब्द से बोलेंगे तो उत्कृष्ट श्रावक कहेंगे। तो यह उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक अपने केश उस्तरा से भी बनवाता है, कैंची से भी कतरवाता है और बैठकर हस्तपात्र में भी भोजन करता है अथवा बर्तन में भी भोजन करता है। वसुनंदी श्रावकाचार में दोनों बातें बतायी गई हैं,, वैसे रिवाज के अनुसार तो क्षुल्लक पात्र में ही भोजन करे, ऐलक हाथ में भोजन करे, एक नियम है, पर अभ्यास रूप की बात अलग है। यह चारों पर्वों में नियम से उपवास करता है। वह पर्व सम्बन्धित तीन-तीन दिन में शाम की कुछ ग्रहण नहीं कर सकता। अर्थात् उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य किसी भी प्रकार का प्रोष्ठ करता है।

भोजन के मिलने और न मिलने में इस श्रावक को समता परिणाम रहता है, खेद खिन्न नहीं होता। यह बात उस महापुरुष के बन सकती है जिसको आत्मा की धुन है। आत्मानुभव को ही जो सर्वोत्कृष्ट वैभव मानता है और अन्य क्रियाकलापों को या संघ समागमों को वह बेकार समझता है उसमें ही ऐसी सहनशक्ति हो सकती है कि आहार न मिलने पर भी वह समता परिणाम रख सके। जिसके आत्मदृष्टि नहीं मिली उसको समता परिणाम ऐसी स्थिति में रखना बहुत कठिन है। दूसरे उत्कृष्ट श्रावक की यानि ऐलक की भी वही क्रिया है किन्तु नियम है यह कि केशलुञ्च करे, पिछी रखे और हाथ में भोजन करे। ये तीनों नियम आवश्यक हैं ऐलक में और ये तीनों नियम क्षुल्लक में आवश्यक नहीं। केशलुञ्च के बजाय बाल बनवा भी सकता है पिछी के बजाय कोमल कोई वस्त्र सूत के भी रख सकता है और पात्र में भी भोजन कर सकता है। उत्कृष्ट श्रावक को मुनि की तरह योग धारण करने का अधिकार नहीं अर्थात् उस प्रकार का तपश्चरण श्रावक को नहीं कहा गया है जिसे प्रतिमायोग कहते हैं। गर्भी में पर्वत के शिखर पर बैठना, बरसात में वृक्ष के नीचे खड़े रहना, शीत में नदी के किनारे रहना आदिक जो विशेष योग विधान है वे मुनि के लिए ही कहे गए हैं। मुनियों में भी

विशिष्ट समर्थ मुनि करते हैं तथा जिन्हें आचार्य समर्थ समझते हैं उनको आज्ञा देते हैं ।

श्रावक के षट्कर्मों में प्रथम आवश्यक कर्म इज्या—श्रावकों में सामान्यतया जो घर में रहने वाले पुरुष हैं उनकी चर्या षट्कर्मों में बतायी गयी है । जिन षट्कर्मों को वसुनन्दी श्रावकाचार में इस प्रकार कहा है इज्या, वार्ता, दान, स्वाध्याय, संयम और तप वैसे प्रसिद्ध रूप से षट्कर्म ये हैं देवपूजा, गुरुपास्ति की जगह वार्ता नाम का कर्तव्य रखा है । जिस वार्ता में अन्य अनेक बातें भी आती हैं और गुरुपास्ति भी आता है, तथा गुरुपास्ति इज्या में भी आ जाता है । इसलिए दोनों प्रकार के वर्णनों में कुछ विरोध नहीं है । पहला कर्तव्य है पूजा । उसके ५ भेद किए गए । नित्य पूजा, चतुर्मुख पूजा, कल्पवृक्ष पूजा, अष्टांग पूजा और इन्द्रध्वज पूजा । जो प्रतिदिन शक्ति अनुसार घर से द्रव्य ले जाकर जिनलय में जिनेन्द्र देव की पूजा करना अथवा चैत्यचैत्यालय बनवाना, उनके प्रबंध के लिए जायदाद आदिक लगाना और मुनिजनों की पूजा करना नित्य पूजा कहा है । चतुर्मुख पूजा मुकुटबद्ध राजाओं द्वारा जो कोई पूजन का विधान होता है वह चतुर्मुख पूजा है । कल्पवृक्ष पूजा, याचकों को इच्छानुसार दान देकर तृप्त करता हुआ उदार भाव रखकर जो पूजन करता है जिनेन्द्रदेव की, उसे कल्पवृक्ष पूजा कहते हैं । अष्टाहिका पर्व में जो पूजा की जाती वह अष्टाहिका पूजा है, और इन्द्रादिक द्वारा जो जिनपूजा की जाती है वह इन्द्रध्वज पूजा है ।

श्रावक का द्वितीय व तृतीय कर्तव्य वार्ता व दान—श्रावक का दूसरा कर्तव्य है वार्ता । इसमें मुख्यता है न्यायपूर्वक धन कमाने की । जो गृहस्थ के योग्य असि मषि कृषि आदिक कर्तव्य बताये गए हैं जो आजीविका के साधन हैं उन्हें न्यायपूर्वक करना यह वार्ता में मुख्य बात है, तीसरा कर्तव्य है दान । इस दान को चार भागों में बांटा गया है । (१) दयादान, (२) पात्रदान, (३) समदान और (४) सकलदान । जो प्राणी दया के पात्र है उनपर दया करके दान करना दयादान कहलाता है । जिस गृहस्थ के दयालुता है कि कोई भी मांगने आये, भूखा है, ठंड का सताया है तो उसको वस्त्रादिक दे, आहार आदिक दे, वह सब दयादान है । पात्रदान—तपस्वी साधु संतों को नवधा भक्तिपूर्वक निर्दोष आहार नवधा पूर्वक देना, कमण्डल पिछों आदिक देना ये सब पात्रदान कहलाते हैं । समदान कहलाता है गृहस्थी में परस्पर बिरादरी में, साधर्मी बंधुओं में, जैसे कन्या देना, भूमि देना, धन देना, साधन जुटाना साधर्मी भाइयों को, यह सब समदान कहलाता है । और सकलदान वह कहलाता है कि अपने परिवार के किसी को या समाज के किसी व्यक्ति को सर्वस्व सौंपकर सबका त्याग कर देना यह सकलदान है । सकलदान का फल यह है कि वह फिर मुनि दीक्षा ले लेता है ।

श्रावक का कर्तव्य स्वाध्याय व संयम—चौथा कर्तव्य है स्वाध्याय । तत्त्वज्ञान का अध्ययन अध्यापन करना, जिसमें तत्त्व पर दृष्टि जाय, सहज आत्मस्वरूप पर दृष्टि की साधक भगवद्भक्ति अथवा वस्तुस्वरूप की चर्चा आदिक बने तो वह सब स्वाध्याय कहलाता है । ५वां कर्तव्य है संयम । इन्द्रिय संयम प्राणिसंयम में बारह ब्रतों का पालन करना यह गृहस्थ का संयम है और छठवां कर्तव्य है तप । इच्छा का निरोध, अपनी शक्ति के अनुसार विषय वाच्छा को दूर कर अपनी धर्मसाधना में लगना यह गृहस्थ के योग्य तप कहलाता है । तो ऐसे इन षट् कर्तव्यों को करता हुआ श्रावक अपना मनुष्य जीवन सफल करता है और जैसे-जैसे कषाय का उपशम

होता जाता है आत्मबल बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे वह प्रतिमावों में बढ़ता जाता है । और बढ़-बढ़कर फिर उसका अन्तिम प्रतिमा का रूप कहलाता है उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा । यह उत्कष्ट श्रावक भगवद्भक्ति और आत्मस्वरूप की दृष्टि इन दोनों कार्यों को ही मुख्य समझता है । फिर चूँकि आहार करना आवश्यक है अथवा अन्य कोई धार्मिक क्रिया करना आवश्यक है सो करता है पर उन समयों में भी अपनी इस दृष्टि और प्रतीति को नहीं छोड़ता । उपदेश भी देगा तो उपदेश देता हुआ अपने आपके स्वरूप की दृष्टि की भी सम्हाल रखेगा । यह तो स्वाध्याय का भेद है उपदेश । स्वाध्याय वह कहलाता है कि जहाँ स्व का अध्ययन हो, आत्मतत्त्व का अध्ययन चले, तो उपदेष्टा जो भी उपदेश में कहता है वह अपने को भी सुनाता रहता है, दूसरों को भी सुनाता रहता है, उपदेश में भी अंतस्तत्त्व की दृष्टि स्वयं के अध्ययन की रहती है । कोई बात पूछता है तो केवल स्व की दृष्टि दृढ़ हो, कोई शंका न रहे मेरे में अथवा जो समझ रखी है वह पदार्थ मेरे में पृष्ठ जंचे, इन भावों से पृच्छना चलती है । जो लोग आत्मदृष्टि की भावना को छोड़कर अन्य भावों से पूछते हैं, ग्रहण करते हैं कि मेरा इसमें बड़प्पन जाहिर होगा या वक्ता से उत्तर न बने तो मेरी इज्जत बढ़ेगी आदिक भावों से प्रश्न करते हैं तो वह स्वाध्याय में नहीं माना गया है, इसी प्रकार आम्नाय पाठ करना, भक्ति का पाठ, विनती का पाठ जो भी पाठ करना है उसका भी अर्थ समझता हुआ करे और उसको अपने पर घटाता हुआ करे तो वह स्वाध्याय है । अनुप्रेक्षा में तो अपने आत्मतत्त्व का चिन्तन ही चलता है विशेषतया । तो जहाँ अंतस्तत्त्व दृष्टि की साधना बनती है ऐसे ये वाचना आदिक ५ प्रकार के स्वाध्याय ये स्वाध्याय कहलाते हैं ।

धर्म के साधनों में साधकों की एकमात्र प्रधान दृष्टि—केवल एक ही दृष्टि है । इन सब साधकों के मायने मुझे तो परमात्मपद पाना है अथवा यह भी नहीं सोचना है किन्तु सहज आत्मा का जो स्वरूप है बस उसको निरखना है और इस ही रूप अपने की मानना है । इसका फल तो यह ही है कि मैं परमात्मा बनूँगा । तो परमात्मपद से पहले की जितनी भी स्थितियां हैं वे सब इसको बेकार लगती हैं और यहाँ तक भी चिन्तन चलता है कि इस ज्ञानानुभूति के अतिरिक्त जो कुछ भी उसकी चेष्टायें होती हैं वे सब अज्ञान चेष्टायें हैं । अज्ञान, मिथ्याज्ञान को भी कहते हैं । अज्ञान, ज्ञान का पूर्ण विकास न हो, ऐसी स्थिति को भी कहते हैं । कषाय भी अज्ञान है, मिथ्यात्व भी अज्ञान है । तो जो-जो भी चेष्टायें हुईं, हो रही हैं वे सब अज्ञान चेष्टायें हैं । ऐसा साधुजन भी ध्यान रखते हैं कि मेरी पहले जो चेष्टायें रहीं वे सब अज्ञान चेष्टायें हैं । ज्ञान चेष्टा तो ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान ही हो, इस तरह की जो वृत्ति है वही वास्तव में ज्ञान चेष्टा है । जैसे धनी पुरुष पाये हुए धन को देखकर संतुष्ट रहे, ऐसी वृत्ति नहीं कर पाता, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष पाये हुए गुण विकास को देखकर सन्तुष्ट हो जाय, रम जाय ऐसा न करके अपनी त्रुटियों को सामने देखता है, उस कमी पर दृष्टि रखता है कि अभी यह भी हटाना है, यह भी हटाना है और इस प्रकार अपनी उन कमियों को हटाता है, गुण विकास होना तो स्वाभाविक ही बात है । तो कर्तव्य यह है कि परमात्मा होने का ध्येय बने, भले प्रकार निर्णय बने और कुछ वाञ्छा न रहे, उसके लिए ही धुन बने और प्रयत्न बने, यह ही आत्महित प्राप्त करने का वास्तविक उपाय है।

## १४८

पापमरातिधर्मो बन्धुर्जीवस्यचेति निश्चिन्वन् ।  
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाताद्वयं भवति ॥११४॥

**अर्थ—**पाप जीव का शत्रु है व धर्म बंधु । ऐसा निश्चय करने वाला आगम को जानता है—आगम के अनुसार प्रवृत्ति करता है तो वह निश्चय ही अपने श्रेय (कल्याण) का ज्ञाता है ।

**जीव का बैरी पाप—**इस जीव का बैरी तो पाप है और बंधु धर्म है, ऐसा निश्चय करता हुआ जो ज्ञानी समय को जानता है मायने आत्मा को जान रहा है वह अपना कल्याण अवश्य करेगा, ऐसा निश्चित है । इस अधिकार में ११ प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है । ११ प्रतिमाओं को अंगीकार कराकर एक बड़ी घट्टता से अपने आप में लीनता पाने के लिए यहाँ कुछ प्रेरणा दी जा रही है । जिससे आत्मा को कष्ट पहुंचे, वही तो अनिष्ट है और कष्ट पहुंचाने का जो साधन हो वही हमारा बैरी है । तो कष्ट है आकुलता । उस आकुलता का साधन है पाप । कोई मनुष्य यदि जीवन में यहाँ पाप कर रहा है तो थोड़ी देर को पाप करते समय वह मोहवश मौज मान रहा है, वही थोड़ी देर बाद कष्ट का अनुभव करने लगता है । फिर पाप का बंध हुआ, उसके उदय काल में तो ऐसे अनिवारित रूप से कष्ट करीब आयेंगे कि जिनका कोई उपाय भी न बन सकेगा । तो जीव का बैरी है तो पाप है । लोभवश लोग पाप करते, मानवश पाप करते, लोभ और मान ये दो ही खास मूल चीजें हैं, पाप के कारण में । क्रोध जिसको आता है तो मान या लोभ के कारण आता है, नहीं तो व्यर्थ गुस्सा करने की किसको पड़ी है । कोई मान में फर्क दिखे तो गुस्सा आने लगता । लोभ में जो इष्ट समझा उसमें विध आये तो क्रोध करता है और मान और लोभ के ही कारण मायाचार करता है । करीब-करीब ऐसा समझा जा सकता है कुछ स्पष्ट समझने के लिए कि आकुलता की जड़ तो है मान और लोभ उसके फल में बनता है क्रोध और माया । यद्यपि चारों कषाय भिन्न-भिन्न स्वरूप में हैं और उनके साधन कर्मदय भी भिन्न-भिन्न है, किन्तु अपने को प्रयोग रूप करने के लिए ऐसा जंचता है कि जड़ है समस्त अनर्थ की तो मान और लोभ है । ये मान और लोभ पाप तब तक दूर नहीं हो सकते जब तक अपने आपके बारे में यह प्रतीति न बने कि मैं तो समस्त विकारों से रहित केवल ज्ञातादृष्टा स्वभाव वाला हूँ । यह प्रतीति होते ही कि मैं ज्ञातादृष्टा स्वभाव मात्र हूँ और ऐसा ही रहने में मेरा कल्याण है, यह ही अपने आप पर न्याय है । ऐसी प्रतीति होते ही मान और लोभ का भंग हो जाता है ।

**जीव के शत्रुभूत पापों में मिथ्यात्व व क्रोध का निर्देशन—**जीव का शत्रु है पाप । उन पापों में मुख्य पाप तो है मिथ्यात्व जो संसार परिभ्रमण कराने का मूल है । जो मैं नहीं हूँ उसे मान लेना कि यह मैं हूँ, जो मेरा नहीं है उसे मान लेना कि यह मेरा है, यह आशय तत्काल भी महान संकट पैदा करता है । और इस आशय में रहकर जो बंध होता है वह कर्मबंध अनेक भवों में जन्ममरण कराने का कारण बनता है । तो यहाँ यह निश्चय करना कि जीव का शत्रु है तो पाप है । और उन पापों का सिरताज है तो मोह हैं, मिथ्यात्व है । फिर दूसरा

पाप समझिये क्रोध । गुस्सा आती है तो जीव का उपयोग किस ओर लगता है? क्या आत्मा की दृष्टि रखते हुए कभी गुस्सा आ सकता? जब भी गुस्सा आता है, जिसके भी गुस्सा आता है उसके उपयोग में कोई बाह्य विषयभूत पदार्थ रहते हैं । तो जो बाहर-बाहर डोल रहा है उसके ही तो यह पाप चलता है । घमंड इस जीव पर ऐसा आवरण छाया है कि यह अपने स्वरूप को न पाकर जो पर्याय मिली है उस पर्याय में अहंबुद्धि रखता है, मान का कारण पर्याय में अहंबुद्धि है । जिन त्यागी साधुवों को भी बेतुकी क्रोध आता रहता है उसका कारण पर्यायबुद्धि ही हो सकता है । यह गृहस्थ अपने देह को निरखकर कल्पना करता है कि मैं अमुकचंद हूँ, अमुकलाल हूँ, व्यापारी हूँ, सर्विस वाला हूँ, इज्जत वाला हूँ, वह यहाँ की पर्याय में आत्मबुद्धि करता है । तो पर्यायमुग्ध नग्नभेषी पुरुष ने नग्न शरीर में आत्मबुद्धि की है कि मैं मुनि हूँ, जिसको आत्मा के ज्ञायकस्वरूप में आत्मतत्त्व की दृष्टि नहीं बनती उसके पर्यायबुद्धि जगती है और जिसके पर्याय बुद्धि है उसके क्रोधादिक कषायें बनती हैं बढ़ती हैं ।

**जीव के शत्रुभूत पापों में मान, माया, लोभ व काम का निर्देशन—तीसरा पाप है मान घमंड इस मान के वश में यह मनुष्य न जाने क्या-क्या अनर्थ नहीं कर रहा है । अपने को भी सताता रहता है, दूसरों को भी तुच्छ मानता है । और उसके खातिर कितनों का ही यह प्राण भी दुखाता है । चौथा पाप है माया, छल कपट करना । कोई बात किसी एक से और तरह कहे, दूसरे से और तरह कहे, तीसरे से और तरह कहे या मन में कुछ और भाव है, कहते कुछ और ढंग से है तो इस प्रकार की जो भीतर वक्र वृत्ति है उसके करने में कितना कष्ट करता है यह जीव? दुःखी होता रहता है, फिर भी मोह का ऐसा उदय है कि उस दुःख को दुःख न मानकर कोई स्वार्थ सिद्धि सधती हुई जाने तो उसका हर्ष मानता है, पर यह माया बहुत बुरा पाप है । इसको तो शल्य तक में भी गिनाया है । ५वां पाप है लोभ । बाह्य वस्तुओं की इतनी तृष्णा रखना कि वही-वही उपयोग में समाया रहे और उसी के लिए ही चेष्टायें बनती रहें तो यह तृष्णा अनर्थकारिणी वृत्ति है । एक काम का भी लोग नाम लेते हैं कि काम भी बैरी है सो काम बैरी तो बहुत बड़ा है ही, पर इस काम का अन्तर्भाव लोभ में आता है, पर इतना बुरा पाप है काम । सब लोभों में सबसे बुरा लोभ है काम का । इस काम को लोभ से अलग गिनाने का प्रयास किया गया है । जब जीव के बैरी ६ माने गए हैं—काम, क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह । ये पाप भाव हैं ।**

**पापभाव का विकट फल बन्धन विपत्ति—पाप भाव के होते ही जो जीव के एक क्षेत्रावगाह में कार्माणवर्गणायें हैं वे कर्मरूप बन जाती हैं । यह प्राकृतिक बात है । सूर्य का उदय हुआ तो बताओ कौन उससे प्रेरणा करने गया कि यहाँ धूप आ जाय? ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक योग है कि जब सूर्य का सन्त्रिधान हो तो यहाँ की पृथ्वी इस प्रकार परिणम जाती है । ऐसे ही उन कर्मों को कौन समझाने जाता है कि जीव विकार करे तो वे कर्म बंध जाते? तो न इसको प्रेरणा जीव देता है न कोई दूसरा देता है किन्तु सहज ही ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि जीव में विकारभाव जगा कि कार्माणवर्गणायें तत्काल कर्मरूप परिणम जाती हैं । और कर्मरूप परिणम गई वे वर्गणायें जब उदिरित होती हैं या उदित होती हैं याने इस आत्मा से ऐसे निकलती है तो उस समय फिर**

यह जीव विकृत बन जाता है। यहाँ भी कौन पढ़ाने लिखाने गया, किन्तु ऐसा ही सहज निमित्त योग है, तो यह पापभाव इस जीव का बैरी है।

जीव का बन्धु धर्म—धर्मभाव जीव का बन्धु है। धर्म नाम है आत्मा के स्वभाव का। ऐसा स्वभाव तो सदैव है इसलिए आत्मा धर्मरूप निरन्तर है। चाहे निर्मोह अवस्था हो, कोई अवस्था हो, स्वभावमय तो यह जीव सदैव है, अगर सदैव है तो क्या करें? किसी लकड़हारे के अंगौछा के खूँट में लाल बंधा है किन्तु उसका पता न होने से वह तो दरिद्र ही बन रहा है, भिखारी है, जैसे एक दोहा में कहते हैं कि—

“सबके पल्ले लाल हैं, लाल बिना कोई नहीं।

याते भयो कंगाल है, गांठ खोल देखी नहीं ॥”

वह धर्म जिसके प्रसाद से मोक्ष मिलता है, वह हम आप में इस वक्त भी मौजूद है, वह कहीं बाहर नहीं गया, धर्म तो है पर धर्म का पालन नहीं हो रहा। सो वह धर्म व्यक्त नहीं हो रहा, दो बातों की कमी है। पालन के मायने है उसकी दृष्टि आ जाना। मैं सहज शान्तस्वरूप हूँ, आनन्दमय हूँ, कष्ट रहित हूँ, विकाररहित हूँ, स्वतंत्र सत् हूँ इस प्रकार की दृष्टि नहीं बनती, सो यह धर्म से विमुख कहलाता है। यह ही दृष्टि बनी कि धर्म का पालन होने लगा। नग्न हो जाना धर्म का पालन नहीं है, किन्तु नग्न अवस्था में धर्म का पालन सुगम है और नग्न भेष पाये बिना, निर्ग्रन्थ हुए बिना, सर्व और से निःशल्य हुए बिना धर्म का पालन नहीं बन पाता, इस कारण मुनिपद का धारण आवश्यक हो गया, मगर नग्न भेष स्वयं धर्मपालन नहीं है, वह धर्मपालन में सहायक है, वातावरण है, आवश्यक है, अनिवार्य है, फिर भी स्वरूपदृष्टि से देखे तो धर्मपालन तो आत्मा का आत्मा में भावरूप ही हो सकता है। शरीर जड़ की क्रिया धर्मरूप नहीं हो सकती। पर जो अनादिकाल से विकारभाव में पला आयीं है वह जीव एकदम इस धर्म में मग्न कैसे हो सके? पूर्वबद्ध कर्मविपाक तो सता रहे हैं, अर्थात् उनके उदय में यह जीव विकृत बन रहा। तो बराबर हैरानी होती है तो बाह्य वातावरण धर्मपालन के अनुरूप अनुकूल बनाना ही पड़ेगा। इस तरह है तो अनिवार्य मुनि भेष, जो कुछ बाह्य है फिर भी स्वरूपदृष्टि से देखेंगे तो आत्मा का भाव ही धर्मपालन बन सकेगा। शरीर की परिस्थिति का नाम धर्मपालन नहीं हो सकता। तो आत्मा का बंधु, मित्र, गुरु, रक्षक, शरण, सर्वस्व धर्म है। ऐसा जो निश्चय रखता है वह पुरुष कल्याण का पात्र होता है।

निज उपादान की सम्हाल में कल्याण का लाभ—मिथ्यादृष्टि जीवों की बुद्धि सुख दुख पाने में दूसरी ओर जाती है। यह इस तरह रहे, लड़के यों बोलें, व्यवहार करें तो मेरे को सुख हो जाता, यह अनुचित बोले तो मेरे को दुःख हो जाता, यह कल्पना गढ़ रखी है मोही जीव ने। जो सुख हुआ है इस मोही गृहस्थ को सो लड़के के सदव्यवहार की वृत्ति से नहीं होता है किन्तु भीतर में कल्पना बना डाली है, यह मेरा बड़ा भला है, मेरे को बड़ा अच्छा है उस कल्पना में सुख मानता है। कहीं बाह्य पदार्थों से सुख निकलकर आत्मा में नहीं आता। जिसने किसी बाह्य पदार्थ की कुछ परिणति को दुःख माना है सो वहाँ दुःख किसी बाह्य पदार्थ से नहीं आया, किन्तु कल्पना गढ़ रखी है कि यह मेरे सुख में बाधा क्यों डालता? मेरे सुख के साधन को क्यों बिगाड़ता

आदिक उस कल्पना में दुःख का प्रादुर्भाव है। सुख दुःख बाह्य पदार्थों से नहीं, इस कारण बैरी कौन है? तो मेरे में रहने वाला भाव बैरी है, और मित्र भी कोई है तो मेरे में रहने वाला भाव ही मित्र बन सकता है। तो पापभाव है बैरी और धर्मभाव है बंधु, ऐसा निश्चय करने वाला पुरुष इस आत्मा को जानता है, इस आत्मस्वरूप को दृष्टि में रखता है, ऐसे ही आत्मा “ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान ही हो” इस परिस्थिति को प्राप्त करता है। सो जो समय को, अंतस्तत्व को जानता है वही श्रेष्ठ ज्ञाता कहलाता है। जब कभी कष्ट का बाह्य प्रसंग जुड़ता है उस समय ज्ञानी अपने कमाये हुए कर्म विपाक के कारण वह कष्ट भी मानता हो तो भी वहाँ प्रतीति खोटी नहीं बनती और वह तत्त्वार्थ का निर्णय रखता है कि मेरे ही कर्म का उदय है, उसका निमित्त पाकर कष्ट हो रहा है। कोई दूसरा जीव मेरे को कष्ट नहीं देता। वह भी अपनी शान्ति के लिए अपना प्रयत्न करता है। उसने मैं ही अपनी शान्ति के लिए प्रयत्न जंचा कि मेरे को लक्ष्य में लेकर वह कोई विरोध की बात किया करे। उसने इसी में ही शान्ति समझा पर वह अपना ही कार्य कर रहा है वह मेरी विराघना नहीं कर सकता। कर्मोदयवश मैं ही अपने भावों से चिंगकर अपनी विराघना कर पाता हूँ, दूसरा नहीं, ऐसा ज्ञानी के निर्णय है, जिस ज्ञानबल के आधार पर थोड़ा आत्मभाव से चिंगता है, निज दृष्टि से हटता है तो बहुत ही जल्दी फिर अपने आपको सम्भाल लेता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष आत्मकल्याण में प्रगति करता चला जाता है।

## श्लोक 149

येन स्वयं वीतकलंकविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावं ।  
नीतस्तमायाति पतीच्छ्येवसर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥१४९॥

**अर्थ—**जो पुरुष अपने आत्मा को कलंकरहित ज्ञानदर्शनचारित्र का पात्ररूप अपने को निरखता वह पुरुष तीन लोक में सर्वश्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त करता है, इसमें रंच भी संदेह नहीं।

मैं हूँ दर्शन ज्ञान चारित्र का आधार—विश्वास होना, जानकारी होना, और रम जाना। मोही जीव भी दर्शन, ज्ञान, चारित्र का परिणमन कर रहा है और ज्ञानी संत भी दर्शन, ज्ञान, चारित्र का परिणमन कर रहा है। मोही जीव विश्वास किए हुए है विषयभूत और बाह्य पदार्थों में कि ये हितरूप है और बाह्य विषयभूत पदार्थों में ही यह अपना ज्ञान बनाये हुए है और उन्हीं का विकल्प करके रमण कर रहा है। मोही जीव का श्रद्धान, ज्ञान और रमण बाह्य परक है और ज्ञानी संत का श्रद्धान, ज्ञान, रमण अन्तः परक है। निज सहज आत्मस्वरूप में श्रद्धा है इसकी कि मैं यह हूँ, अन्य रूप श्रद्धा इसकी कभी बन ही नहीं सकती। यह है ही नहीं अन्य रूप, फिर उल्टा कैसे मानेंगे? श्रद्धालु है तो अपने सहज आत्मस्वरूप अपने को मानना यह तो है श्रद्धान और इसही तत्त्व को जानते रहना, इसका ही ज्ञान करना यह है उसका ज्ञान और ऐसा ही ज्ञान बनाये रहने रूप रम जाना यह है उसका रमण। जिस पुरुष ने ऐसे निष्कलंक रत्नत्रयस्वरूप अन्तस्तत्त्व को प्राप्त किया है वह तीन लोक में श्रेष्ठ है। सिद्धि है वह क्या है? अपने आत्मा के विकास के अतिरिक्त कौनसी ऋद्धि सिद्धि को प्राप्त करना है।

स्वाध्याय और सत्संग में जीवनक्षण व्यतीत होने का महत्त्व—हम आपका बहुत अच्छा भवितव्य होगा जो स्वाध्याय में रुचि जगती रहे। आंखें काम नहीं करती तो सुनने का काम किया जा सकता है। कदाचित् दोनों ही काम न करें तो इस ज्ञान के द्वारा जो संस्कार बनाया है उस संस्कार से मनन के काम को कौन रोक सकता? स्वाध्याय में प्रीति जगती हो और सत्संग अधिक समय मिलता रहे तो वह उत्तम भवितव्य की निशानी है। सत्संग का बड़ा महत्त्व है, पर सत्संग कहलाता वह संग है कि जिसमें रहने वाले प्रमुख जन संसार, शरीर, भोगों से विरक्त रहकर केवल आत्मविकास की ही धुन बनाये रहते हों वे हैं सत्पुरुष, ऐसे पुरुषों के संग को सत्संग कहते हैं। यदि ऐसा सत्संग नहीं है तो वह संग नहीं है, वह तो दुःसंग है, आकुलता का उत्पादक है। यदि कुछ लोगों का ऐसा समूह बना है जिसमें एक के भी आत्मा की धुन नहीं है, बाहरी-बाहरी क्रियाओं में ही रम रहे हैं। देह में आत्मबुद्धि बनी हुई है तो मान और लोभ का मूल कहां से खत्म होगा? और जब भीतर में ही रम रहे हैं। देह में आत्मबुद्धि बनी हुई तो मान और लोभ का मूल कहां से खत्म होगा? और जब भीतर में मान और लोभ बसा हुआ है तो वह फूटेगा, पद-पद पर कलह होगा, एक दूसरे को न सुहायगा। ये सारी बातें बनने लगेंगी। यदि वास्तविक सत्संग मिल जायतो इससे बढ़कर लोक में कोई दूसरा वैभव नहीं, तिर जायगा वह पुरुष। तिरना यह ही कहलाता है कि बाह्य पदार्थों से दृष्टि हटाकर सहज आत्मस्वरूप में दृष्टि रम जाय, जिसके फल से यह आत्मा अन्य बन्धनों से छूटकर केवल अपने स्वभाव विकास रूप रह जाये। इसी को तो मोक्ष कहते हैं।

**सहजज्ञान स्वरूप रमण की सर्वसिद्धिरूपता**—भैया सहजज्ञानस्वरूप में रमण ही कल्याण है और ऐसी स्थिति पाये बिना संसार में कोई कैसे ही वैभव में रहे वह सब धोखा है और उसका फल पतन है। जैसे कोई जितनी ऊँची दीवार से गिरे उसको उतनी ही अधिक चोट लगेगी। तो संसार के वैभव संग समागम ये मेरे हितकारी नहीं हैं सो इन परपदार्थों की धुन तो रहना ही न चाहिए। केवल मेरे में रत्नत्रय धर्म का कैसे विकास हो और जिस धर्म का अनुभव करके उसने शान्ति आनन्द पाया उस रत्नत्रय का दूसरे को भी पता चले ऐसी भावना ज्ञानी के बनती है। स्वपर हितभावना के ही बल पर वह धर्मप्रचार धर्म प्रसार की भी भावना रखता है, तो ऐसे धर्मभाव के लिए ही हम आपकी धुन रहती है तो हम आप सुरक्षित हैं। यदि धर्मभाव के प्रति प्रीति नहीं है और उसके लिए प्रगति की भावना नहीं है तो आज पुण्य के उदय में चाहे कितना ही मौज के साधनों में हो पर रच भी सुरक्षा नहीं है। तत्काल भी रक्षाहीन है और भविष्य में भी रक्षाहीन है। इस कारण इस सहज रत्नत्रयभाव की दृष्टि होनी चाहिए। मैं हूँ यह सहज दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वरूप। केवल ज्ञायकभाव केवल प्रतिभास मात्र। अपने से अपने में अपने लिए अपने को बिठाये रखने वाला जिसका बाहर में रंच भी कार्य नहीं है ऐसा यह मैं आत्माराम ठीक उस ही स्वरूप हूँ। उस ही स्वभावरूप हूँ जैसा कि परमात्मा का स्वरूप है। इह तरह जो रत्नत्रय के विकास पर दृष्टि रखता है और अपने रत्नत्रयभाव को प्राप्त होता है उसको तीनों लोक में उत्तम सर्वश्रेष्ठ निर्वाण प्राप्त होता है।

## १५०

**सुखयतु सुखभूमि: कामिनं कामिनीव, सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु ।  
कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीताज्जिनपति पदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥१५०॥**

**अर्थ—**जिनेन्द्र भगवान के पदपद्मों को निरखने के लिए यह सम्यग्दर्शन रूप लक्ष्मी कामीपुरुष को सुखभूमि कामिनी को तरह मेरे को सुख उत्पन्न करे और जैसे शुद्ध शीला जननी माता सुत को पालन करती है इस तरह मुझ को पालन करें और गुणों से भूषित कन्या जैसे कुल को पवित्र करती है वैसे ही मुझ को पवित्र करे । इस सम्यग्दर्शनरूप लक्ष्मी को जिनेन्द्र के चरण कमलों को निरखने वाली कहा है । सो सम्यक्त्व होने पर जब तक इस जीव के राग शेष रहता है उसके आराध्य जिनेन्द्र भगवान होते हैं और यह अनुराग अभेद सहज आत्मभक्ति का साधन बनता है । ज्ञानी जीव को दो ही कार्य हैं—अपने सहज आत्मस्वरूप की आराधना करना या जहाँ गुणविकास है ऐसे परमात्मस्वरूप की उपासना करना । इन दो के अतिरिक्त अन्य कुछ भी इसका शरण नहीं है, उपलक्ष्य नहीं है, ध्येय नहीं है, इसी वजह से सम्यग्दर्शन लक्ष्मी को जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी विशेषण दिया है कि यह जिनेन्द्र के चरण कमल को निरखने वाली है । यह सम्यक्त्वलक्ष्मी जीवों को सुखी कर सकती है इसीलिए इससे आशीष चाहा है कि यह सम्यग्दर्शनरूप लक्ष्मी मुझ को, जगत को याने सबको सुखी करें ।

(१) सम्यक्त्व लक्ष्मी से विशुद्ध आनन्द पाने का आशीष—यहां उदाहरण दिया है कि जैसे सुखभूमि कामिनी कामी पुरुष को सुखी करती है उदाहरण यह बिल्कुल लौकिक है पर लौकिकजनों को समझाने के लिए लौकिक उदाहरण भी प्रयोग में लेना पड़ता है । उदाहरण में तो भेदकथन है, उपचार कथन है, स्त्री भिन्न द्रव्य है, पुरुष भिन्न द्रव्य है । एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को सुखी कैसे कर सकता है? पर प्रकरण में भिन्न द्रव्य की बात नहीं कही जा रही । सम्यग्दर्शन लक्ष्मी यह आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं है । आत्मा की ही तारीफ है, सो सम्यग्दर्शन लक्ष्मी मुझ को लोगों को सुखी करे । यहाँ सुखी करे, इस रूप में आशीष चाहा है, पर सुखी करे इस आशीष का भाव यह है कि आनन्दमय करें । सुखी होना कोई भली बात नहीं है, क्योंकि सुख का जो वास्तविक स्वरूप है, शब्द के अनुसार जो वाच्य है वहतो अपवित्र बात है । इन्द्रिय को सुहावना लगे, मौज में रहे इसे कहते हैं सुख । पर लौकिकजनों को समझा रहे हैं और वे इस सुख से परिचित हैं इस कारण सुख शब्द देकर ही समझाया गया है । वस्तुतः अर्थ यह होता है कि मुझ को आनन्दमय करो । आनन्द तो मेरा स्वरूप है, स्वभावतः मैं आनन्दमय हूँ, पर उपादान में कारण पड़ा है इस आनन्द को नष्ट करने का, ढकने का विषय व कषाय और अन्तरंग निमित्त है कर्म का उदय, तथा बहिरंग निमित्त है आश्रयभूत अनेक कारण । सो जिसको तत्त्व का निर्णय है वही तो सम्यक्त्व का आशीष चाह रहा है । एक प्रकट यह अपने आप में अनुभव बनता है कि सम्यग्दर्शन का जो वाच्य है, ध्येय है, लक्ष्य है सहज आत्मस्वरूप, उस सहज आत्मस्वरूप की उपासना नियम से उन आवरणों को हटा देती है जो उपादान में आवरण पड़े हैं और अपने आपको आनन्दमय अनुभव करा देती है । तो यह सम्यक्त्व लक्ष्मी मुझ को आनन्दमय करे ।

(२) सम्यक्त्व लक्ष्मी से आत्मपोषण पाने का आशीष—दूसरा उदाहरण दिया है कि शुद्ध स्वभाव वाली मां जैसे पुत्र का पालन करती है उसी प्रकार यह सम्यक्त्वलक्ष्मी मेरा पालन करे। माँ का हृदय विशुद्ध है पुत्र के प्रति। पुत्र का हित चाहती है पुत्र को हित कार्य में लगाती है। कदाचित् पुत्र कुमार्ग में जायते उसे थोड़ा दण्ड देकर कुमार्ग से हटाती है। तो जैसे शुद्ध प्रकृति मां की पायी जाती है इसी प्रकार मुझ आत्मा के प्रति शुद्ध प्रकृति इस सम्यग्दर्शन लक्ष्मी में पायी जाती है। सम्यक्त्व लक्ष्मी आत्मा का हित ही चाहती है। हित में ही लगाये रहती है और कदाचित् थोड़ा धर्मभाव से चलित हो तो इस ही की प्रेरणा है कि जो तपश्चरण आदिक लेकर पुनः यह जीव धर्म में लग जाता है। सो जैसे शुद्धशीला मां पुत्र को पालती है, पोसती है, उसी प्रकार यह शुद्धशीला सम्यक्त्व लक्ष्मी मुझ को भी पाले-पोसे ऐसी सम्यक्त्व लक्ष्मी से, आशीष लिया है।

(३) सम्यक्त्व लक्ष्मी से पवित्रता लाभ का आशीष—तीसरा उदाहरण दिया है कि जैसे गुण भूषण से भूषित कन्या कुल को पवित्र करती हैं उसकी प्रकार गुणों से भूषित सम्यक्त्व लक्ष्मी मुझ को पवित्र करे। कुल को पवित्र लड़का करता है पर यहाँ उस लड़के को छोड़ दिया है। उस लड़के की उपेक्षा की है और कन्या का उदाहरण लिया है। तो व्यवहार में ऐसा मालूम पड़ता है कि कन्या आज्ञाकारिणी हो, विनयशील हो, गुण भूषित हो तो उसे देखकर कुल की पवित्रता पर लोगों की दृष्टि जल्दी जाती है। वहाँ पुत्र को देखकर भी जो योग्य हो, कुल पर दृष्टि जाती है, पर कन्या को देखकर विशेषतया कुल पवित्रता की ओर दृष्टि जाती है। उसका कारण यह भी हो सकता कि एक तो कन्या सरल हृदय होती है तथा जैसी रूढ़ि चली आयी है वैसी अपने ही बल पर पूरी खड़ी हुई नहीं मानते हैं लोग। कन्या जब अविवाहित है तो माता पिता के अधीन है, और जब विवाहित है तब अपने उस कुटुम्ब के अधीन है। तो ऐसा होने से अशुद्धता न हो सकने से उसमें पवित्रता विशेष होती और गुणभूषितपना हो तो जैसे जिन्हें लोग बेचारेसा समझते हैं और उनमें गुण दिखें तो उसके प्रति बहुत आकर्षण होता है शुद्ध हृदय से, ऐसे ही कन्या को जब योग्य गुणभूषित निरखते हैं तो लोगों को उसके आदर्शों के प्रति आस्था बहुत होती है। कुछ भी कारण हो यहाँ कन्या का उदाहरण दिया है कि जैसे कन्या कुल को पवित्र करती है ऐसे ही गुणभूषित सम्यक्त्व लक्ष्मी मुझ को पवित्र करे।

**ग्रन्थकर्ता व उनका वर्णनीय लक्ष्य**—इस ग्रन्थ के कर्ता है समन्तभद्राचार्य, जिनकी विद्वत्ता के लिए इस पंचमकाल में हुए ऋषि वरों की उपमा मिलना कठिन है। इन्हें कलिकाल सर्वज्ञ कहा जाता था। इनकी रचना आसमीमांसा, अष्टसहस्री और अष्टसहस्री जैसी विशाल दृढ़ टीकायें लिखी गई हैं। कैसा प्रभु का स्तवन करते-करते समस्त न्यायों को स्पष्ट कर डालते हैं। वृहत्स्वयंभूस्तोत्र, जिसमें स्तुति तो की गई है २४ तीर्थकरों की, मगर उस स्तवन में ही कैसा सयुक्तिक शब्दों द्वारा, संक्षिप्त शब्दों द्वारा न्याय का समस्त हृदय रख दिया है। यह विक्रम सम्बत् की पहली दूसरी शताब्दी के करीब हुए हैं, इनका पाण्डित्य अलौकिक था। समन्तभद्राचार्य ने इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम धर्म का स्वरूप कहा है। सो धर्म ही तो जीव को संसार के संकटों से छुड़ाकर उत्तम सुख में पहुंचाता है। धर्म बिना जीव का कोई भी शरण नहीं है। कर्म का उदय प्रेरित करता है सो जीव बाह्य-बाह्य बातों में लगता है, पर बाह्य-बाह्य बातों में लगने में जो समय गुजारा वह समय निरर्थक रहा। उससे

आत्मा का कोई प्रयोजन नहीं बना । जो क्षण आत्मस्वभाव की दृष्टि में गुजर वे क्षण सफल हैं । सो सर्वप्रथम धर्म का निर्देश किया और संकल्प किया कि मैं तो उस समीचीन, उत्कृष्ट धर्म को कहूँगा, जिस धर्म के प्रसाद से जीव संसार के सर्व संकटों से छूटकर अनन्त काल के लिए सहज आनन्द प्राप्त करते हैं, वह धर्म है सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप ।

**जैन शासन की निष्पक्षता, उदारता व सर्वहितकारिता—सम्यगदर्शन में देव, शास्त्र, गुरु का यथार्थ श्रद्धान होना ये सब साधन बनते हैं सहज आत्मस्वरूप के अनुभव के । सम्यगदर्शन प्रत्येक संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवों में प्रकट हो सकता है । चाहे उन्हें नरक का नारकी भी हो उसके भी सम्यक्त्व हो सकता है । हां इतनी बात अवश्य है कि सम्यक्त्व छूट जायगा मरण से पहले नारकी का । जिनके क्षायिक सम्यक्त्व है, अथवा जो नरक से निकलकर तीर्थकर होंगे, उनका सम्यक्त्व तो दृढ़ है, पर शेष नारकियों के सम्यक्त्व मरण समय में छूट जाता है । पर हो तो गया सप्तम नरक के नारकी को भी । जो शारीरिक कठिन वेदनायें सह रहा है ऐसा नारकी जीव भी सम्यगदर्शन के प्रताप से धीर मन वाला बना हुआ है । सम्यगदर्शन चाण्डाल के भी हो जाता है । बिल्ली, घोड़ा, हाथी, चूहे, मेंढक के भी हो जाता है । होता है बिरले को, जिसको देशनालब्धि कभी प्राप्त हुई और निर्मल परिणाम बन रहा है, पर हो सकता है प्रत्येक संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्ति को । धर्म कितना उदार है और उसका प्रस्तुपक जैन शासन कितना उदार है वह जीव मात्र को निरखता है । जो भी आत्मदृष्टि करेगा वह मोक्ष मार्ग में लगता है, ऐसी उदारता पूर्ण घोषणा है जैन शासन की, वह नारकी हो, तिर्यच्च हो, मनुष्य हो, देव हो । हां वस्तुस्वरूप ही है ऐसा कि संयम मनुष्य के ही पाया जा सकेगा । और निर्ग्रन्थ होकर आत्म आराधना के प्रताप से निर्वाण मनुष्य ही पा सकते हैं । जो जैसी बात है उसको उस प्रकार से जैन शासन ने बताया है । जैन धर्म किसी एक सम्प्रदाय का धर्म नहीं, जैन धर्म किसी के कुल के कारण धर्म नहीं । जैन शासन का नाता आत्मभावों से है । आत्मा सभी जीव है, हां यह उन आत्माओं की उस पर्याय की योग्यता है जिससे कि असंज्ञी जीव सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकते । तो इसे यह न कहा जायगा कि यह पक्षपात की बात कहता है । क्या करें, आचार्य देव विवश हैं उन असंज्ञी जीवों में ऐसी योग्यता ही नहीं है । जिसमें योग्यता है वही सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है, और वहाँ जैन मार्ग का अनुसरण कर अनेक प्रकृतियों का सम्बर और निर्जरा कर सकता है । जैन शासन की निष्पक्ष घोषणा है जो वीतराग और सर्वज्ञ हैं वहतो देव हैं । जो निर्दोष वस्तुस्वरूप का कथन करने वाली वाणी है वह शास्त्र है और विषयों से विरक्त होकर ज्ञान, ध्यान, तपश्चरण में ही लीन रहने वाले साधु गुरु हैं । इनका श्रद्धान सम्यक्त्व का साधन है, क्योंकि सम्यक्त्व होने पर इनका ही आश्रय और प्रयोग मोक्षमार्ग में बढ़ता है ।**

**सम्यगदृष्टि का सम्यक्त्वाचरण—जिसके सम्यगदर्शन हो गया वह अपने आत्मा में रंच भय और शंका नहीं रखता । उसकी दृष्टि में यह सहज परमात्मतत्व स्पष्ट सामने है । जिसके निरखने पर किसी प्रकार का भय नहीं रहता । सम्यगदृष्टि जीव एक आत्मविकास के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं चाहता । कर्मोदय से कैसी ही विपत्तियां आयें, उनमें घबड़ाता नहीं, चित्त गिराता नहीं । इसको किसी भी व्यामोह में आकर्षण नहीं होता ।**

अपने गुणों के विकास में बढ़ने की ही धुन इस ज्ञानी पुरुष की होती है। वह बाहर के दोषों को नहीं निरखता, न दोषदृष्टि में उसका चाव है। फिर भी कहीं दोष विदित हो दूसरे में तो उनकी उपेक्षा करता है। अथवा साधर्मी तपस्वीजनों में दोष हो गए हों तो धर्मभक्ति के कारण उन दोषों को छुपाता है, सदैव अपने आपको मोक्षमार्ग में लगाये हुए है और सहवासी साधर्मीजनों को भी इस मार्ग में लगे रहने की प्रेरणा करता है। अनूठा अनुराग है इस ज्ञानी पुरुष का साधर्मीजनों में, ऐसा अनुराग कुटुम्बीजनों के प्रति असम्भव है। लोग सर्वाधिक प्रेम कुटुम्बियों में करते हैं मगर वहाँ स्वच्छ प्रेम नहीं होता। उसमें मोह भरा हुआ है, खुदगर्जी को लिए होता है, विषय से सम्बंधित होता है, पर जिसने जिन अंतस्तत्त्व का अनुभव किया उसको ऐसे अनुभवी पुरुषों के प्रति निश्छल प्रेम होता है। यह ज्ञानी जीव अपने आपके आचार विकास में लगा रहता है और उसकी वृत्ति से सहज ही जैन शासन की प्रभावना होती रहती है।

**सम्यक्त्व सहित देशसंयम की अर्थकारिता—सम्यग्दर्शन आचरण का मूल हैं।** जिसके सम्यक्त्व नहीं उसके आचरण है, वह बेतुकी क्रिया करके कहा जायगा। जिसका लक्ष्य ही सिद्ध नहीं हो पाता उसके आचरण का क्या महत्व है? भले ही मंद कषाय होने से कुछ पुण्यबंध हो गया तो उससे कुछ सुविधापूर्ण जन्म ले लेगा इससे अधिक और क्या पायगा? ‘ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान ही हो’ इस स्थिति के होने का जो आनन्द है उसको सम्यक्त्वहीन कभी पा ही नहीं सकता। ऐसा यह सम्यग्दृष्टि अपने स्वानुभव में प्रसन्न होता हुआ आगे बढ़ना चाहता है। सो चूंकि पहले बहुतसी विषयकषाय घटनाओं की बाधा रही आयी और उसका संस्कार कुछ रूप में शेष रह गया तो उससे बाधा आती है स्वात्ममग्न होने में। सो परिग्रहों का त्याग करना, विघ्न बाधाओं को हटाना मात्र है। बाह्य परिग्रहों के त्याग से कहीं आत्मविकास नहीं बढ़ा। आत्मविकास तो सहज आत्मस्वरूप की उपासना से बढ़ा। मगर ऐसे ही योग्यता का मनुष्य है कि पूर्वबद्ध कर्म का संस्कार इस आत्मविकास को नहीं बढ़ने देता—तो उनका जो बाह्य साधन है, आश्रयभूत कारण है धन वैभव आदिक, उनका त्याग करना, यह ही बाह्य आचार में बढ़ना कहलाता है। सो गृहस्थ पहिले क्या त्याग करता है, फिर किस तरह त्याग में बढ़ता है और साथ ही आत्मा की आराधना में बढ़ता है बस इसही प्रक्रिया में श्रावक की ११ प्रतिमायें बन जाती हैं, सो यह श्रावक उन प्रतिमाओं में बढ़-बढ़कर ऐसी अपनी शक्ति बढ़ाता है कि सहज आत्मस्वरूप का वह अनुभव अधिक बार करता रहे।

**सम्यक्त्व की सर्वगुणविकासमूलता—इस ग्रन्थ में मुख्यतया सम्यक्त्व और श्रावक के व्रतों का वर्णन है।** सब सदाचारों का आधार सम्यग्दर्शन है, इस सम्यक्त्व के होने पर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान बनता है। चारित्र सम्यक्त्वचारित्र बनता है। सम्यक्त्व आत्मविकास का मूल है। एक लोक में प्रसिद्ध बात है कि कोई किसी पुरुष की प्रशंसा करता है तो उसको यों कहकर कहते हैं कि यह तो सिंह के समान है। बीर है, मगर जरा सिंह की वृत्ति तो निहारो, सिंह मांस खाता है, वह कूर प्राणी है। मनुष्यादिक को देख ले तो उसके प्राणघात कर डाले। परन्तु लोग सिंह की उपमा देते हैं, जिसकी प्रशंसा की जाती है कि यह पुरुष सिंह के समान है अर्थात् यह पुरुष

दूसरों को मारने वाला है, कूर है, यह अर्थ हुआ, पर लोग बड़े चाव से सिंह की उपमा सुनना पसंद करते हैं, और उसे कहते हैं सिंह वृत्ति । सिंह से तो अच्छा और बढ़कर कुत्ता है जो कि अपने स्वामी की सेवा करे, विनयशील रहे, गोद में लेटे, पहरा देवे, बारबार मुख ताके और कृतज्ञ रहें । देखिये कितने गुण हैं कुत्ते में । इन गुणों में से एक भी गुण सिंह में नहीं है । यदि किसी पुरुष की प्रशंसा करना हो तो यह कहना चाहिए कि यह पुरुष तो कुत्ते के समान है, इसकी हम कहां तक बड़ाई करें, कुत्ते के समान परोपकारी है, पर ऐसा क्यों नहीं कहते लोग? उसका कारण यह है कि कुत्ते में एक अवगुण ऐसा है जिसकी वजह से उसके इन सारे गुणों पर पानी फिर गया, और सिंह में एक गुण ऐसा है भीतरी कि जिसके कारण सिंह के सारे अवगुण माफ से कर दिए गए । वे गुण अवगुण क्या हैं? कुत्ते में अवगुण यह है कि उसे यदि कोई लाठी मारे तो वह कुत्ता उस लाठी को चबाता है, लाठी को अपराधी समझता है, उसकी बुद्धि में यह बात नहीं आती कि मेरे को मारने वाला तो यह पुरुष है । इसको कहते हैं मिथ्याबुद्धि । और इनके प्रतिपक्ष में सिंह में यह गुण है कि कोई सिंह को तलवार मारे या कोई बंदूक का निशाना लगाये तो तलवार या बंदूक पर उसकी दृष्टि नहीं जाती । वह सीधे उस मारने वाले पुरुष पर हमला करता है । उसके सही बुद्धि है । तो ऐसे ही भेदविज्ञानी पुरुष अपने को सताने वाले विषयकषाय पर ही धावा बोलता है आश्रयभूत कारणों पर धावा नहीं बोलता । यह लक्ष्य बन जाता है ज्ञानी पुरुष का जिससे कि वह मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने के लिए निर्विघ्न सफल हो जाता है ।

देशसंयम, सकलसंयम की साधना करके निश्चयरत्नयाराधक होकर परमात्मत्व अवस्था पाने के पौरुष की भावना—इस रत्नकरण्ड में आत्मसाधना का यह क्रम संकेतित किया है कि प्रथम तो कल्याणार्थी निर्दोष सम्यक्त्व को प्राप्त करे जिसमें शंका कांक्षा आदि अङ्गविपरीत दोष न हो, देवमूढ़तादिक तीन मूढ़ताओं में से कोई भी मूढ़ता न हो, ज्ञानमद आदि आठ मदों में से कोई भी मद न हो, कुदेवाश्रय आदि छह अनायतनों में से कोई भी अनायतन न हो । सम्यग्दृष्टि पुरुष दर्शनप्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमाओं में एक दो आदि प्रतिमाओं को निरतिचार पालन कर जीवन बिताता ब्रतपालन करके निष्ठतीकार बुढ़ापा, रोग आदि उपस्थित होने पर सल्लेखना धारण करना कर्तव्य है । यों धर्मसाधन कर सल्लेखना सहित मरण कर श्रावक शुभ गति में जन्म लेता है पश्चात् कर्मभूमि में मनुष्यभव पाकर निर्गन्ध दिग्म्बर होकर अभेद उपासना करके निर्वाण प्राप्त कर सकता है । निर्वाण लाभ ही सर्वोत्कृष्ट लाभ है । अतः जीवन में ध्येय एकमात्र यह ही रखने में कल्याण है कि मुझे तो परमात्मत्व अवस्था पाना है । परमात्मत्व से पहिले की अवस्थायें सब मेरे लिए व्यर्थ हैं विडम्बनारूप हैं । अतः मैं शुद्धावस्था पान के लिए निज सहज शुद्ध चैतन्य स्वभाव में ही उपयोग को मग्न करूंगा ।

॥ इति समाप्त ॥

मैं ज्ञान मात्र हूँ मेरे स्वरूप में अन्य का प्रवेश नहीं अतः निर्भार हूँ ।

मैं ज्ञानघन हूँ, मेरे स्वरूप में अपूर्णता नहीं, अतः कृतार्थ हूँ ।

मैं सहजानन्दमय हूँ, मेरे स्वरूप में कष्ट नहीं, अतः स्वयं तृप्त हूँ ।

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धम् चिदस्मि ॥